पञ्चम अध्याय

वक्तव्य—

इस अध्याय के प्रारम्भ में ''**नेश्वराधिष्ठिते फल**····'' (२) इन सूत्रों का अर्थ अनिरुद्ध और विज्ञानभिक्षु ने ईश्वरप्रतिषेधपरक किया है, जैसे ''पूर्वसिद्धमीश्वरासत्त्वमिदानीं न्यायेनाह—नेश्वराविष्ठिते फल·····'' (अनिरुद्धः) अर्थात् पूर्व से सिद्ध ईश्वर का न होना अब न्याय से कहता है—''नेश्वराधिष्ठिते फल·····'' यह अनिरुद्ध का कथन है तथा ''ईश्वरासिद्धेरिति यदुक्तं तन्नोपपद्यते कर्मफलदातृतया तत्सिद्धेरिति ये पूर्वपक्षिणस्तान्निराकरोति—नेश्वराधिष्ठिमते फल····'' (विज्ञानभिक्षुः) ='ईश्वरासिद्धेः' यह जो कहा है वह नहीं बन पड़ता कर्मफलदाता होने से ईश्वर की सिद्धि होजाने से, इस प्रकार जो पूर्व पक्षी हैं उनका निराकरण करता है ''नेश्वराधिष्ठिते फल·····'' यह विज्ञानभिक्षुका कथन है। इस प्रकार इन दोनों का ईश्वर-प्रतिषेधपरक अर्थ करना अयुक्त ही है। इन दोनों ने पूर्वसूत्रों के अर्थों में ईश्वर का स्वीकार कर लेने से—उसे स्वीकार कर अर्थ करने से, जैसे—''**अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात्** (३।५५) [पारवश्यात् कहा है न कि परार्थत्वात्। वह कौन है, जिसके वश में प्रकृति है?] परः आत्मा किं रूपः, इत्यादि, स हि सर्ववित् सर्वकर्ता,—ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा'' (सांख्य०३।५५—५७ अनिरुद्धः) अर्थात् अकार्य है=कारण है तो भी परवश होने से जीवात्मा उस में लीन होकर कृतकृत्य नहीं होसकता क्योंकि प्रकृति परवश है, उसे कार्यरूप में फिर हो जाना है। जीवात्मा फिर सृष्टिसर्जन के साथ बन्धन में आजावेगा जिसके वश में प्रकृति है वह सर्वज्ञ और सर्वकर्ता है। ऐसे ईश्वर की सत्ता नित्य है। इस प्रकार अनिरुद्ध का कथन है। तथा इस पञ्चम अध्याय में भी आगे ''ब्रह्मनिरूपणाय अन्येषां तुल्यरूपमाह—**समाधि-सुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता**'' (सांख्य० ५।११६ अनिरुद्धः) ब्रह्मनिरूपण के लिये अन्यों का तुल्य रूप कहता है—समाधि, सुषुप्ति, मोक्ष में ब्रह्मरूपता होती है। यहां अनिरुद्ध ने परमात्मा का सर्वज्ञ, सर्वकर्ता तथा ब्रह्म नाम स्वीकृत किया ही है। और विज्ञानभिक्षु भी ''**तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्**'' (सांख्य० १।९६) इस सूत्र पर ''पुरुषस्य सन्निधानादेवाधिष्ठातृत्वं स्वष्ट्रत्त्वादिरूपमिष्यते····· आदिपुरुषस्य संयोगमन्तरेण प्रकृतेर्महत्तत्त्वरूपेण

परिणमनम्·····तथा चोक्तं निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोहः प्रवर्तते, सत्तामात्रेण देवेन तथाऽयं जगज्जनः॥ निरिच्छत्वादकर्ता कर्ता सन्निधिमात्रतः'' (विज्ञानभिक्षुः) अर्थात् पुरुष के सन्निधान=संसर्ग से अधिष्ठातृत्व=स्रष्टापन आदि रूप इष्ट है। आदि पुरुष के संयोगमात्र से प्रकृति की महत्तत्त्वरूप से परिणति होती है। ऐसा कहा भी है कि निरिच्छ पास खड़े अयस्कान्तमणि के कारण लोहा गति करता है, वैसे सत्तामात्र देव के कारण यह जगत्कारण अव्यक्त प्रकृत्याख्य परिणाम गति को प्राप्त होता है। निरिच्छ होने से अकर्ता और कर्ता सन्निधान से=संसर्ग से है। यहां विज्ञानभिक्षु ने आदिपुरुष ईश्वर को प्रकृति का परिणाम करने वाला सन्निधिमात्र से कहा है। वह कर्ता आदि देव कैसा है—''स हि सर्ववित् सर्वकर्ता—सर्वकर्तेश्वर आदिपुरुषो भवति····· ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा, यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः सन्निधि-मात्रेणेश्वरस्य सिद्धिस्तु श्रुतिस्मृतिषु सर्वसम्मता—अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। ईशानो भूतभव्यस्य·····'' (सांख्य० ३।५६-५७ विज्ञानभिक्षुः)= वह आदिदेव सर्ववित् ईश्वर आदिपुरुष है। ऐसे ईश्वर की सिद्धि नित्य है जो सर्वज्ञ, सर्ववित् जिसका ज्ञानमय तप है। सन्निधिमात्र से ईश्वर की सिद्धि तो श्रुतियों-स्मृतियों में सर्वसम्मत है। जैसे अंगुष्ठमात्र पुरुष आत्मा के अन्दर रहता है, भूत-भविष्य का स्वामी है। इस कथन में आत्मा में विराजमान पुरुष सर्वज्ञ-सर्वकर्ता संसर्ग से श्रुतिस्मृतिसम्मत है। सर्वज्ञ ईश्वर स्वीकार किया है। और संसर्ग से सर्वकर्ता भी उन दोनों ने स्वीकार किया है। वैसा ईश्वर तो इस पञ्चम अध्याय में स्वीकार करना चाहिए न कि अस्वीकार। और जो उनके भाष्य में 'प्रकृतिलयत्व' 'आदिपुरुषत्व' यह विशेषण है वह तो उन दोनों अनिरुद्ध और विज्ञानभिक्षु ने अपनी कल्पना से ही दिया हुआ है न कि सूत्रकार ने। सूत्रशैली से तो वही ईश्वर सिद्ध है जो परम्परा से स्वीकार किया जा रहा है, इसे विद्वान् देखें हमारे भाष्य में। अतः उन दोनों के द्वारा यहां पञ्चमाध्याय में ईश्वरखण्डनपरक अर्थ करना अयुक्त ही है। भेद तो केवल इतना है कि पूर्व तो नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-स्वभाव पुरुष का संसर्ग से कर्तृत्व सूचित किया है, स्वतः नहीं। यहां उसी नित्य शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव पुरुषविशेष ईश्वर का जीवों के लिये कर्म की अपेक्षा से फलदातृत्व है स्वतः नहीं, यह प्रतिपादन है। फलप्रदान में वह ईश्वर सर्वथा स्वतन्त्र नहीं किन्तु कर्म की अपेक्षा से फलप्रदाता है, यही लक्ष्य यहां है। अब सूत्रों के अर्थ करते हैं—

मंगलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनात् श्रुतितश्चेति ॥ १ ॥

(मङ्गलाचरणम्) पूर्व समीपी चतुर्थ अध्याय के अन्तिम सूत्र में ''न भूतियोगे कृतकृत्यता'' विभूतियोग में=सिद्धियोग में योग प्रतिपादन साधनों द्वारा सिद्धिप्राप्ति में कृतकृत्यता नहीं, यह कहा। उसके विषय में यहां शेष विधान है कि यहां योगसाधनों में भी जो मङ्गलाचरण=मङ्गलों= सर्वप्राणिमङ्गलकारी अहिंसा, सत्य आदि कर्मों का आचरण—अनुष्ठान अपने अन्दर ले आना तो विवेकी मुमुक्षु के लिये नितान्त आवश्यक है। क्योंकि उसके अनुष्ठान से कृतकृत्यता होती है, इसमें सन्देह नहीं। वह यह वृत्त (शिष्टाचारात्)। शिष्टाचार=शिष्टों का आचार ''**शिष्टाः खलु विगतमत्सरा निरहङ्काराः कुम्भीधान्या अलोलुपा दम्भदर्पलोभमोह-क्रोधविवर्जिताः**'' (बौधायन धर्मसू० १।१।५)=शिष्ट जन ईर्ष्यारहित, अहङ्कारशून्य, गम्भीर, लोलुपतारहित, छल, गर्व, लोभ, मोह, क्रोध से रहित होते हैं। उन शिष्टों द्वारा आचरण में लाए हुए होने से सभी शिष्ट महात्माओं—ऋषियों द्वारा आचरित होने से तथा (फलदर्शनात्) उन ऐसे अहिंसा आदि मङ्गल आचारों का वैसा ही योगदर्शन में फल प्रदर्शित किये जाने से ''अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः, सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्, अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्, ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः, अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः, शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च,' सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः, कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः, स्वाध्याया-दिष्टदेवता सम्प्रयोगः, समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्'' (योग० २। ३५-४५)। अहिंसा की प्रतिष्ठा में वैरत्याग, सत्यप्रतिष्ठा में सब रमणीय पदार्थों की उपलब्धि, ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठा में वीर्यलाभ, अपरिग्रहस्थिरता में जन्म हुआ क्यों है यह बोध; शौच से अपने अङ्गों में निन्दा, दूसरों से असंसर्ग, सत्त्वशुद्धि, सुमनसता, एकाग्रता, इन्द्रिजयत्व, आत्मदर्शनयोग्यता; सन्तोष से अत्युत्तमसुखलाभ, तप से अशुद्धिनाश द्वारा काय और इन्द्रियों की सिद्धि, स्वाध्याय से इष्ट देवता का लाभ, ईश्वरप्रणिधान से समाधि-सिद्धि होती है। (च) और (श्रुतितः) श्रुतिविधान से उक्त मङ्गल आचरणों का सेवन मुमुक्षको आवश्यक है—''**मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे**'' (यजु० ३६। १८)=मित्र की दृष्टि से सारे प्राणी मुझे देखें, मैं मित्र की दृष्टि से सारे प्राणियों को देखूं। ''**तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्या-**

सत्'' (ऋ० ७। १०४। १२)=उन दोनों में वह सत्य है जो सरल से सरल है, उसे रखनेवाला सोम हो जाता है। ''**न स्तेयमद्म**'' (अथर्व० १४। १। ५७)=मैं चोरी का न खाऊं। ''**ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत**'' (अथर्व० ११। ५। १७)=ब्रह्मचर्य-तप से देवों ने मृत्यु को परास्त किया। ''**मा गृधः कस्यस्विद्धनम्**'' (यजु० ४०। २)=मत ललचा, सोच धन किसका है अर्थात् किसी का नहीं, (इति) इन तीनों हेतुओं से वह मङ्गलाचरण तो अनिवार्यरूप से अनुष्ठान करने योग्य है॥ १॥

अच्छा, हो मङ्गलाचरण=मङ्गलकारी अहिंसा आदि कर्मों का आचरण शिष्टाचार तथा उन मङ्गलकारी अहिंसा आदि का आचरण श्रुतिविहित, परन्तु '**फलदर्शनात्**' से जो फलप्रदर्शन कहा वह ठीक नहीं, क्योंकि मङ्गलाचरणरूप अहिंसाकर्माधीन फल सम्पन्न नहीं होता किन्तु फल तो ईश्वराधीन ही है, उसके अधिष्ठातृत्व के अधीन जीवात्मा फल भोगते हैं, वह ही फलप्रदाता है। कहा भी है—''**यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्**'' (ऋ० १०। १२५। ५)=''जिसको चाहता हूँ उस-उसको तेजस्वी, उसे ब्रह्म-ऋषि, उसे सुमेधा करता हूँ''। ''**इन्द्रो विश्वस्य राजति शन्नोऽस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे।**'' (यजु० ३६। ८)= ऐश्वर्यवान् ईश्वर विश्व का राजा है। वह दो पैरवाले और चार पैरवाले के लिये कल्याणकारी होता है। ''**यो विदधाति कामान् तत्कारणम्**'' (श्वेता० ६। १३)=जो कामनाओं, सुखों को धारण करता है वह सुख का कारण है। इस प्रकार ईश्वर ही सुख फल देता है। मङ्गल कर्म से फलसम्पत्ति कहना ठीक नहीं। इस पर कहते हैं—

नेश्वराधिष्ठिते फलसम्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः॥ २॥

(ईश्वरासधिष्ठिते) केवल ईश्वर के अधिष्ठान में ''**नपुंसके भावे क्तः**'' (अष्टा०३। ३। ११४) (फलसम्पत्तिः—न) फलसम्पत्ति नहीं होती। क्योंकि (कर्मणा तत्सिद्धेः) कर्म द्वारा ही ईश्वर के अधिष्ठान की सिद्धि होने से। जीवात्माओं के कर्मों को अपेक्षित करके ही ईश्वर के अधिष्ठान की सिद्धि होती है, कर्म के बिना नहीं। जैसे कहा है—''**यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि**'' (ऋ० १। १। ६) देने वाले के लिये यह कर्म सूचना है, तथा ''**एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापि सर्वभूतान्तरात्मा कर्माध्यक्षः**'' (श्वेता०६। ११) यहां सर्वभूतों में अन्तर्हित सर्वव्यापक ईश्वर को कर्माध्यक्ष स्पष्ट कहा है कि वह कर्मानुसार फल देता है, विना

कर्म के नहीं। "**पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन**" (बृह० ४। ४। २)=पुण्य कर्म से सुखी और पाप कर्म से दुःखी होता है, अतः ईश्वर विना कर्म के फलप्रदाता नहीं॥ २॥

पूर्वपक्षरूप से कहते हैं—

स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत्॥ ३॥

(स्वोपकारात्) ईश्वर स्वामी है और 'स्वों' का होता है। उस ईश्वर के स्व-रूप जीवात्माएं हैं, उनके उपकार के हेतु (अधिष्ठानं लोकवत्) उसका अधिष्ठान लोक के समान हो। जैसे लोक में परिवारस्वामी=गृहपति के स्व-रूप भार्या, पुत्र आदि का उपकार करने के लिये अधिष्ठाता होना विना कर्म के भी युक्त है, उसी प्रकार ईश्वर का भी विना कर्म अधिष्ठातापन हो सकता है।

यह सूत्र भी अनिरुद्धवृत्ति और विज्ञानभिक्षुभाष्य में अन्यथा व्याख्यात किया है। यहां पूर्वसूत्र में आए 'कर्मणा' शब्द को आश्रित कर पूर्वपक्ष होना चाहिए॥ ३॥

उसी पूर्वपक्ष के विषय में फिर कहते हैं—

लौकिकेश्वरवदितरथा॥ ४॥

(इतरथा) अन्यथा, यदि वह ईश्वर स्व-रूप भार्या पुत्र आदियों का उपकार न करे तो (लौकिकेश्वरवत्) लौकिक पदार्थों के ईश्वर=स्वामी जैसे भूमिस्वामी, धनस्वामी होते हैं। वैसा हो जावे॥ ४॥

रहे वैसा ईश्वर कृपण, उस ऐसे ईश्वर से क्या अथवा क्या उसके ऐश्वर्य से फिर भी उसी सम्बन्ध में—

पारिभाषिको वा॥ ५॥

(वा) अथवा वह निरुपकारक ईश्वर रहे (पारिभाषिकः)कथनमात्र=नाममात्र काष्ठधेनु की भांति जो उपकार न करे। परिभाषा=निन्दा, निन्दाभागी=उपहासभागी॥ ५॥

अब समाधान करते हैं—

न रागादृते तत्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात्॥ ६॥

(रागात् तत्सिद्धिः) कर्मों को अनपेक्षित करके=विना कर्मों के उपकार साधना (रागात्-ऋते न) राग के विना सम्भव नहीं, (प्रतिनियत-कारणत्वात्) कर्मों के विना उपकार साधने में राग अनिवार्य कारण है, अतः कर्म को अपेक्षित करके उसका ईश्वरत्व है॥ ६॥

और फिर—

तद्योगेऽपि न नित्यमुक्तः ॥ ७ ॥

(अपि तद्योगे) 'अपि' सम्भावना में है। रागयोग सम्भव होने पर भी उस ईश्वर का राग के साथ सम्बन्ध सम्भव हो, या उसमें राग का योग सम्भव तो (नित्यमुक्तः—न) वह नित्यमुक्त न हो सके। ईश्वर नित्यमुक्त कहा गया है—"स तु सदैवः मुक्तः सदैवेश्वरः" (योग० १। २४ व्यासः)। यहां सांख्य में भी पूर्व कहा गया है—"**नित्यमुक्तत्वम्**" (सांख्य० १। १६२) ॥ ७ ॥

पक्षान्तर का निराकरण करता है—

प्रधानशक्तियोगाच्चेत् सङ्गापत्तिः ॥ ८ ॥

(प्रधानशक्तियोगात्—चेत्) प्रधान=अव्यक्त प्रकृति की जो शक्ति भोग देने की प्रवृत्ति है उस के साथ सम्बन्ध होने से=उस से बाध्यमान होने से, ईश्वर का स्वतन्त्र=विना कर्म के फल देने में अधिष्ठातापन है, यदि यह कल्पित किया जावे तो (सङ्गापत्तिः) प्रधान=प्रकृति की प्रवृत्ति-शक्ति के साथ वह सक्त हो जावेगा, यह सङ्गापत्ति आती है। और वह असङ्ग कहा गया है—"**स यत् तत्र किञ्चित् पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवति, असङ्गो ह्ययं पुरुषः**" (बृह० ४। ३। ५)=वह जो वहां कुछ देखता है वह उससे अनुगत लिप्त नहीं होता पुरुष असङ्ग है ॥ ८ ॥

फिर दूसरे पक्ष का निराकरण करता है—

सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम् ॥ ९ ॥

(सत्तामात्रात्—चेत्) प्रकृति से भिन्न चेतनसत्ता उस ईश्वर की है अथवा प्रकृति से भिन्न चेतनसत्ता ईश्वर ही है, उस सत्तामात्र से=सत्ता होने से सत्ता का अपना धर्म होना चाहिए और वह कर्म को अपेक्षित न होकर स्वतन्त्र फलप्रदान करता है, यदि कहा जावे तो (सर्वैश्वर्यम्) प्रकृति से भिन्न सत्तावाले सभी चेतनों समस्त जीवात्माओं के ईश्वर होने का दोष आजावेगा क्योंकि वे भी प्रकृति से भिन्न सत्तावाले हैं, विना ईश्वर के ही फल भोग लेंगे, अतः कर्म के अपेक्षित किए विना ईश्वर का अधिष्ठातापन फलसम्पत्ति में नहीं है ॥ ९ ॥

फिर दूसरे पक्ष का निराकरण करते हैं—

प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः ॥ १० ॥

(प्रमाणाभावात्) कर्मनिरपेक्ष फलप्रदाता ईश्वर के सम्बन्ध में प्रमाण

का अभाव होने से (तत्सिद्धिः न) उस ऐसे ईश्वर की सिद्धि नहीं होती। प्रत्यक्ष कोई लोक में ईश्वर=जनेश्वर कर्मनिरपेक्ष किसी को पुरस्कार या दण्ड देता है। यहां प्रमाणशब्द से प्रत्यक्ष प्रमाण अभिप्रेत है, आगे अनुमान और शब्द का प्रतिपादन होने से॥ १०॥

सम्बन्धाभावान्नानुमानम्॥ ११॥

(सम्बन्धाभावात्) सम्बन्ध के अभाव से=कर्मनिरपेक्ष फलप्रदाता ईश्वर के विषय में नियतसम्बन्ध के अभाव से=व्याप्तिसम्बन्ध के अभाव से (अनुमानं न) अनुमान नहीं है॥ ११॥

श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य॥ १२॥

(प्रधानकार्यत्त्वस्य श्रुतिः—अपि) पूर्व सूत्र से 'न' का अनुवर्तन है। प्रधान=प्रकृति की कार्यपरिणमन विषयक श्रुति भी कर्मनिरपेक्ष नहीं किन्तु जीवकर्म को अपेक्षित करके है—"**एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च। एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति**" (श्वेता० ६। ११,१२) इस वचन में वह ईश्वर कर्माध्यक्ष होकर एक बीज प्रधान=प्रकृतिरूप को कार्यरूप में बहुत कर देता है, यह स्पष्ट है। यहां आगे सांख्यकार कहेगा—"**न धर्मापलापः प्रकृतिकार्यवैचित्र्यात्**" (सांख्य० ५। २०) और कर्मनिरपेक्ष वह प्रधान तथा उसके कार्यों के प्रति ही प्रवृत्त होता है क्योंकि प्रधान और उसके कार्य जड़ हैं उनमें धर्म-अधर्म रूप कर्म के ज्ञान का अभाव है, अतएव उनमें वैसे कर्मों का अभाव होने से। ऐसा ही श्रुति भी कहती है—"**निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं [निष्क्रियबीजम्] बहुधा यः करोति**" (श्वेता०६। १२) बहुसंख्यक निष्क्रिय कार्यों का जो बीज निष्क्रिय बीज है इसे बहुत रूप में करता है; किन्तु जीवों के प्रति तो कर्मापेक्ष ही वह ईश्वर प्रवृत्त होता है, कर्मनिरपेक्ष फल नहीं देता। अतएव प्रकृति का कार्यरूप में परिणाम भी जीवों के कर्मों को अपेक्षित करके करता है, यह सिद्ध हो जाता है।

यहां भी "**प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः**" (१०) इस सूत्र से प्रस्तुत सूत्रपर्यन्त अनिरुद्ध और विज्ञानभिक्षु ने ईश्वर का खण्डन किया है, यह महान् आश्चर्य है कि उन दोनों ने प्रथम ही प्रमाणप्रसङ्ग में "**ईश्वरासिद्धेः**" (सांख्य० १। ९२) इस सूत्र से ईश्वर का खण्डन कर दिया था। यहां भी वैसे ही खण्डनपरक अर्थ करना निरर्थक बालप्रलाप ही है, यह बुद्धिमान् देखें॥ १२॥

प्रकृति का कार्य होना जीवकर्मापेक्ष है, प्रकृति का कार्यरूप में परिणाम जीवों के कर्मों को अपेक्षित करके ईश्वर करता है, जो श्रुति से सिद्ध किया है। वही फिर युक्ति से भी पुष्ट किया जाता है, अन्य पक्ष के उत्थापन और समाधान के द्वारा—

नाविद्याशक्तियोगो निःसंगस्य ॥ १३ ॥

(अविद्याशक्तियोगः) यदि कहा जावे कि प्रकृति का कार्यरूप में आना जीवों के कर्मों की अपेक्षा से नहीं किन्तु ईश्वर में अविद्याशक्ति का योग है=अविद्याशक्ति के सम्बन्ध से वह ईश्वर प्रकृति को कार्यरूप में परिणत कर देता है तो (न) यह ठीक नहीं, क्योंकि (निःसङ्गस्य) ईश्वर निःसङ्ग है। निःसङ्ग का अविद्याशक्ति से सम्बन्ध नहीं होता ॥ १३ ॥

हो पुरुष निःसङ्ग परन्तु प्रधानकार्यत्व के लिये=प्रकृति को कार्यरूप में परिणत करने को पुरुष का अविद्याशक्ति से योग होना चाहिए। इस विषय में कहते हैं—

तद्योगे तत्सिद्धावन्योऽन्याश्रयत्वम् ॥ १४ ॥

(तद्योगे) पुरुष का अविद्याशक्ति से योग होने पर (तत्सिद्धौ) प्रकृति का कार्यरूप में होजाना सिद्ध होने पर (अन्योऽन्याश्रयत्वम्) अन्योऽन्य आश्रय दोषप्रसङ्ग आता है, क्योंकि अविद्याशक्ति-योग से प्रकृति का कार्यरूप में परिणत हो जाना, पुनः प्रकृति के कार्यरूप परिणाम में पड़ने से अविद्याशक्तियोग होता है ॥ १४ ॥

अविद्या और प्रकृति का जो कार्यरूप में परिणाम है, वह इन दोनों का बीजाङ्कुर की भांति अनादि सम्बन्ध है, अतः यह अन्योऽन्याश्रयदोष नहीं आता है। इस पर कहते हैं—

न बीजाङ्कुरवत् सादिसंसारश्रुतेः ॥ १५ ॥

(बीजाङ्कुरवत्—न) अविद्या और प्रधान कार्यत्व=प्रकृति परिणाम का अर्थात् अविद्या और संसार का बीज और अंकुर की भांति सम्बन्ध नहीं है (सादिसंसारश्रुतेः) सादि संसार की श्रुति होने से। संसार अनादि नहीं किन्तु संसार आदिमान् है, यह श्रुति कहती है—"**इयं विसृष्टिर्यत आबभूव**" (ऋ० १०। १२९। ७)=यह विविध सृष्टि उत्पन्न हुई। "**द्यावाभूमी जनयन् देव एकः**" (यजु० १७। ११)=द्युलोक से लेकर भूमिलोक पर्यन्त एक देव अर्थात् ईश्वर ने उत्पन्न किए ॥ १५ ॥

और फिर अविद्यास्वरूप में दोष यह है—

विद्यातोऽन्यत्वे ब्रह्मबाधप्रसंगः ॥ १६ ॥

(विद्यातः—अन्यत्वे) ब्रह्म में अविद्याशक्तियोग से प्रधान कार्यत्व=प्रकृति परिणाम के स्वीकार में अविद्या वस्तुरूप हो जावे, जिस शक्ति के साथ ब्रह्मयोग करे फिर उस अविद्या के अन्यत्व में, भिन्नवस्तुता में (ब्रह्मबाधप्रसङ्गः) ब्रह्म का बाधप्रसङ्ग होता है, क्योंकि अविद्या से भिन्न जो वस्तु है वह विद्या है, ऐसे कथन में ब्रह्म अविद्या हो जावे, क्योंकि वह भी विद्या से भिन्न है। विद्या ज्ञान है परन्तु ब्रह्म द्रव्य है। ज्ञान से भिन्न वस्तु हो से उसका भी बाध हो जावे, वह विद्या से भिन्न अविद्या से बाधा जाता है। जैसे विद्या अपने से भिन्न अविद्या को बाधती है। अथवा अविद्या ही विद्या को बाधती है, विद्या से भिन्न होने के कारण। जब अविद्या होती है उस समय विद्या नहीं रहती, फिर तब अविद्या से युक्त ब्रह्म बाधित हो जावे, विद्याशून्य हो जावे। या ब्रह्म ही न रहे यह अनिष्ट है, क्योंकि "**यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः**" (मुण्ड० १।१।९) जो सर्वज्ञ, सर्वप्राप्त जिसका ज्ञानमय तप है, ज्ञानभण्डार ब्रह्म की सत्ता है। इस प्रकार ब्रह्मबाधप्रसङ्गदोष से यह मन्तव्य उचित नहीं, यहां ब्रह्म को सूत्रकार मानता है यह स्पष्ट है॥ १६॥

और भी—

अबाधे नैष्फल्यम्॥ १७॥

(अबाधे नैष्फल्यम्) अबाध होने पर अर्थात् यदि अविद्या ब्रह्म को न बाधे तो उसका 'विद्या से अन्य होने से' इस पूर्वसूत्रोक्त मन्तव्य की निष्फलता हो जावे और अविद्या का अकिञ्चित्करत्व सिद्ध हो जावे॥ १७॥

दूसरे पक्षका निराकरण करते हैं—

विद्याबाध्यत्वे जगतोऽप्येवम्॥ १८॥

(विद्याबाध्यत्वे) अविद्या की विद्या से अन्यता=भिन्नता नहीं, किन्तु विद्याबाध्यत्व=वह विद्या से बाधी जाती है, वह स्वयं बाधने में समर्थ नहीं, उस से दूसरा बाधा नहीं जाता, अतः ब्रह्म-बाधप्रसङ्ग न होगा। जबकि पुरुष में विद्या प्रवृत्त होती है और अविद्या निवृत्त होती है, ऐसी अविद्या यदि कही जावे तो (जगतः—अपि—एवम्) जगत् भी इसी प्रकार विद्या से बाधा जाता है, विद्यावान् पुरुष के पास से जगत् भी निवृत्त हो जाता है—"**अथात आदेशो नेति नेति**" (बृह० २।३।६)। इस प्रकार जगत् भी विद्या से बाध्य होने से अविद्या हो जावे॥ १८॥

हो, जगत् भी अविद्या। इस पर कहते हैं—

तद्रूपत्वे सादित्वम्॥ १९॥

(तद्रूपत्वे) जगत् के अविद्यारूप होने में अर्थात् यदि जगत् भी अविद्या हो जावे तो (सादित्वम्) अविद्या का सादित्व सिद्ध होजावे क्योंकि जगत् सादि है। जगत् का सादित्व पूर्व सिद्ध किया जा चुका है— "**न बीजाङ्कुरवत् सादिसंसारश्रुतेः**" (सांख्य० ५।१५) "**इयं विसृष्टिर्यत आबभूव**" (ऋ० १०।१२९।७) "**द्यावाभूमी जनयन् देव एकः**" (यजु० १७।१९)। इसी प्रकार अविद्या अनादि नहीं, सादि है। फिर उस अविद्या के शक्तियोग से ब्रह्म प्रकृति को कार्यरूप में परिणत करे, यह सिद्ध नहीं होता किन्तु जीवों के कर्मों को अपेक्षित करता हुआ ही ईश्वर प्रकृति को कार्य में परिणत करता है—"**श्रुतिरपि प्रधान-कार्यत्वस्य**" (१२) इस सूत्र में जो पूर्व कहा है वही सिद्ध रहा है॥ १९॥

इसीलिये—

न धर्मापलापः प्रकृतिकार्यवैचित्र्यात्॥ २०॥

(धर्मापलापः—न) अहिंसा आदि मङ्गलाचरणरूप कर्म का अपलाप नहीं होता, जिसको अपेक्षित करके ईश्वर का अधिष्ठातृत्व फल प्रदान के लिये द्वितीय सूत्र में व्यक्त किया है वह ठीक ही है, कैसे? (प्रकृति-वैचित्र्यात्) प्रकृति के कार्यों की विचित्रता से=ऊंच-नीचपन से=सुखदुःखरूपत्व से पूर्णाङ्गता और न्यूनाङ्गता, उत्तमाङ्गता, दुरङ्गता से, आगे कहेगा ही सूत्रकार "**कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम्**" (सांख्य० ६।४२)॥ २०॥

धर्माचरण से प्रकृति का विविध कार्य सुखीत्व आदि है, इसमें क्या प्रमाण है, इस आकांक्षा में कहते हैं—

श्रुतिलिङ्गादिभिस्तत्सिद्धिः॥ २१॥

(श्रुतिलिङ्गादिभिः) श्रुतिप्रमाण से, लिङ्गप्रमाण से=अनुमानप्रमाण से, 'आदि' शब्द से योगियों के भीतरी प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा, धर्माचरण से सुखित्व जो प्रकृति की कार्यविचित्रता की सिद्धि होती है। श्रुति—"**पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति**" (बृह० ३।३।१३) पुण्यवान् पुण्य कर्म से सुखी होता है। लिङ्ग प्रमाण=अनुमान प्रमाण तो जन्म से सुख, सम्पत्ति, सकलाङ्गत्व भोगरूप पूर्वजन्माचरित उचित कर्म से तथा सुखभोग फल के समान, योगियों के आन्तरिक प्रत्यक्ष की भी सिद्धि होती है॥ २१॥

श्रुति आदि प्रमाण हों, किन्तु प्रत्यक्ष अर्थात् लौकिक प्रत्यक्ष प्रमाण तो उसकी सिद्धि में नहीं है, इस आकांक्षा पर कहते हैं—

न नियमः प्रमाणान्तरावकाशात् ॥ २२ ॥

(नियमः—न) प्रत्यक्ष प्रमाण से ही वस्तुसिद्धि हो ऐसा नियम नहीं, सभी कुछ प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होता हो ऐसा नहीं (प्रमाणान्तरावकाशात्) वस्तुसिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण से अतिरिक्त प्रमाण अनुमान आदि का अवकाश होने से ॥ २२ ॥

और भी—

उभयत्राप्येवम् ॥ २३ ॥

(एवम्) इस प्रकार श्रुति-लिङ्ग आदि से धर्म की ही सिद्धि नहीं किन्तु (उभयत्र—अपि) धर्मसिद्धि में तथा अधर्मसिद्धि में भी समान प्रमाण निर्देश जानना चाहिए। इससे उन श्रुति-लिङ्ग आदि के द्वारा अधर्मसिद्धि भी होती है, श्रुति—"**पापः पापेन**" (बृह० ३।२।१५)। लिङ्ग प्रमाण आदि विपरीत रूप से जान लें॥ २३ ॥

धर्मसिद्धि में तो श्रुति आदि प्रमाण की अपेक्षा है, अधर्मसिद्धि में नहीं। उसकी सिद्धि तो अर्थापत्ति से हो जावेगी ही। इस पर कहते हैं—

अर्थात् सिद्धिश्चेत् समानमुभयोः ॥ २४ ॥

(अर्थात् सिद्धिः) अर्थापत्ति से ही अधर्म की सिद्धि हो जावेगी (उभयोः समानं चेत्) धर्म-अधर्म दोनों का यदि समान क्षेत्र प्रकरण या वर्णन हो, परन्तु जहां क्षेत्र प्रकरण या वर्णन समान नहीं है वहां अधर्मसिद्धि न हो, अतः अधर्म के लिये भी श्रुति आदि प्रमाण प्रदर्शन युक्त ही है। जैसा कि "**मा हिंसीः पुरुषं जगत्**" (यजु० १६।३, श्वेता० ३।६)= जंगम प्राणी की हिंसा मत कर, "**न स्तेयमद्मि**" (अथर्व० १४।१।५७)= चोरी न खाऊं, "**अक्षैर्मा दीव्यः**" (ऋ० १०।३४।१३)=पाशों से जुआ न खेलूं, "**पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्**" (ऋ० १०।१०।१२)=जो बहिन से भोग करता है उसे पापी कहते हैं, "**मा गृधः कस्यस्विद् धनम्**" (यजु० ४०।१)=मत लोभ कर, क्या किसी का धन हुआ है या होगा? इत्यादि॥ २४॥

सिद्ध हो धर्म-अधर्म और उसके फल सुख-दुःख, परन्तु उससे तो पुरुष में सङ्गापत्ति हो जावेगी, कहा है "**असङ्गो ह्ययं पुरुषः**" (बृह० ४।३।१५)=पुरुष असंग है। इस पर कहते हैं—

अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम् ॥ २५ ॥

(धर्मादीनाम्—अन्तःकरणधर्मत्वम्) धर्म-अधर्म, सुख-दुःखों का अन्तःकरणधर्मत्व है=धर्म-अधर्म सुख-दुःख अन्तःकरण के गुण हैं। अन्तःकरण पुरुष का करण है, आन्तरिक साधन है, बहिष्करण के समान। जैसे आदान आदि गुण-व्यवहार हाथ आदि बहिष्करण कर्मेन्द्रियगण के और जैसे रूप आदि गुण नेत्र आदि बहिष्करण ज्ञानेन्द्रियगण के हैं, वैसे ही धर्म-अधर्म-सुखदुःख उभयात्मक अन्तःकरण के गुण हैं, करण सामान्य से। क्योंकि इस में ही रहते हैं, इससे ही प्रतीत होते हैं, अतः पुरुष में संगापत्ति नहीं आती ॥ २५ ॥

यदि ऐसा ही है तो विवेक क्या करना ? इस पर कहते हैं—

गुणानां (गुणादीनां ?)* नात्यन्तबाधः ॥ २६ ॥

(गुणानाम्) विवेक के बिना उन धर्म-अधर्म सुख दुःख रूप अन्तःकरण के गुण होने पर भी (अत्यन्त बाधः—न) अत्यन्त बाध=अभाव न होगा, किन्तु धर्म=अधर्म के अदृष्टवश से या धर्म=अधर्म से निष्पन्न संस्कार से उनके फल सुख-दुःख की अनुभूति तो अनिवार्य होती है, इस जन्म में या परजन्म में ॥ २६ ॥

क्योंकि—

पञ्चावयवयोगात् सुखसंवित्तिः ॥ २७ ॥

(पञ्चावयवयोगात्) निर्णय के साधन अनुमानविषयक पांच अवयवों के युक्ति साधन से अर्थात् प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय, निगमन के युक्ति व्यवहार से (सुखसंवित्तिः) सुख की अनुभूति होती है। जैसे सुखानुभूति धर्मफल है वैसा दुःखानुभूति अधर्मफल भी पञ्च—अवयवों के योग से सिद्ध होता है ॥ २७ ॥

उस अनुमान में—

न सकृद् ग्रहणात् सम्बन्धसिद्धिः ॥ २८ ॥

(न सकृद् ग्रहणात्) पुनः पुनः ग्रहण से=पुनः पुनः कार्य-कारण के दर्शन से। कार्य-कारण के एक ही देश या काल में देखने से किन्तु देश-देश में और काल-काल में वैसे ही दर्शन से (सम्बन्धसिद्धिः) कार्य-कारण सम्बन्ध की सिद्धि अनुमान में निमित्त होती है ॥ २८ ॥

---

* 'गुणादीनां' (अनिरुद्ध पाठः), 'गुणादीनां च' (विज्ञानभिक्षुः)

और वह—

नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः ॥ २९ ॥

(वा) अथवा (उभयोः) दोनों कार्य-कारण के (नियत-धर्म-साहित्यम्) नियत धर्म का सहभाव (एकतरस्य व्याप्तिः) एक के अनुमान में, ज्ञान में, विषय में व्याप्ति होती है, जैसे धूम से अग्नि की सिद्धि या अग्नि से धूम का उठना ॥ २९ ॥

क्यों जी, कार्य-कारण के नियत धर्म का सहभाव व्याप्ति कहा है, वह क्या उन कार्य-कारण से भिन्न तत्त्व है, इस आकांक्षा पर कहते हैं—

न तत्त्वान्तरं वस्तुकल्पनाप्रसक्तेः ॥ ३० ॥

(तत्त्वान्तरं न) व्याप्ति कार्यकारण से भिन्न तत्त्व=वस्तु नहीं है, उन से भिन्न तीसरी वस्तु नहीं है। क्योंकि (वस्तुकल्पना-प्रसक्तेः) वस्तुकल्पना प्रसंगदोष, धर्म कभी धर्मी नहीं होता। व्याप्ति धर्म है, कार्य-कारण के सहभाव में नियत धर्म है, अतः व्याप्ति कार्य-कारण से भिन्न वस्तु रूप नहीं ॥ ३० ॥

अवस्तु होने पर फिर वह किस स्वरूपवाली है, इस के सम्बन्ध में कहते हैं—

निजशक्त्युद्भवमित्याचार्याः ॥ ३१ ॥

(निजशक्त्युद्भवम्) कार्य-कारण की जो निजशक्ति है उसका उद्भव अर्थात् कार्यकारण भाव में प्रवृत्त समान देश-काल वाले तथा कार्यता कारणता को प्राप्त पदार्थों की जो व्याप्त शक्ति है, उसके उद्भव को व्याप्ति मानता हूं (इति—आचार्याः) ऐसे ही अन्य अनेक सांख्य आचार्य मानते हैं ॥ ३१ ॥

आधेयशक्तियोग इति पञ्चशिखः ॥ ३२ ॥

(आधेयशक्तियोगः—इति पञ्चशिखः) कार्य-कारण आधार हैं, उनका कार्यकारणभाव आधेय है। आधेय का शक्तियोग=शक्ति संयोग समान देशकाल को अपेक्षित करके जो सम्बन्ध है वह व्याप्ति है, ऐसा पञ्चशिख मानते हैं ॥ ३२ ॥

न स्वरूपशक्तिनियमः पुनर्वादप्रसक्तेः ॥ ३३ ॥

(स्वरूपशक्तिनियमः न) व्याप्ति निजशक्त्युद्भव=कार्य-कारण की शक्ति का उद्भव या आधेय शक्तियोग इन दोनों लक्षणों से लक्षित हो सकती है, परन्तु स्वरूपशक्तिनियम नहीं अर्थात् कार्यद्रव्य और कारणद्रव्य

के स्वरूपशक्ति का नियमन कार्यत्व-कारणत्व ही उस द्रव्य में स्थित देश-काल को अपेक्षित न करके वर्तमान वह-वह द्रव्यमात्र अप्रादुर्भूत कार्यत्व और कारणत्व व्याप्ति नहीं है। क्योंकि (पुनर्वादप्रसक्तेः) पुनरुक्ति दोष प्रसंग से, जैसे घड़ा कार्य के देशकाल को अपेक्षित न करके मिट्टी ही है अर्थात् वह कार्यरूप घड़े का कारण है ऐसा नहीं, एवं मिट्टी कारण के देशकाल को अपेक्षित न करके घड़ारूप घड़ा ही है अर्थात् वह कारणरूप मिट्टी का कार्य नहीं, तथा जैसे धूम कार्य का देशकाल को अपेक्षित न करके अग्निस्वरूप अग्नि ही है अर्थात् धूम कार्य का कारण नहीं तथा जैसे अग्नि कारण के देशकाल को अपेक्षित न करके धूमस्वरूप धूम ही है इस प्रकार वस्तु की पुनरुक्ति ही होती है।

यह सूत्र अनिरुद्धवृत्ति और विज्ञानभिक्षुभाष्य में अन्यथा व्याख्यात किया है। वहां शक्त, मल्ल, घट, कलश इस प्रकार पर्यायत्व को आश्रित कर पुनरुक्ति दिखलाई है, किन्तु यहां पर्यायत्व की पुनरुक्ति अभीष्ट नहीं, अपितु स्वरूप पुनरुक्ति दोष अभीष्ट है॥ ३३॥

तथा—

विशेषणानर्थक्यप्रसक्तेः॥ ३४॥

(विशेषणानर्थक्यप्रसक्तेः) स्वरूपनियम व्याप्ति है, इस मन्तव्य में विशेषण की अनर्थकता का प्रसंग आता है। मल्ल, शक्त इस कथन से क्या शक्तिसिद्धकार्य के बिना कि जो कारण=वस्तु कारण, जो कार्य=वस्तु कार्य, इस प्रकार कारणविशेषण और कार्यविशेषण व्यर्थ हो जावे, जब तक कार्यता-कारणता का देश और काल में सहभाव प्रसंग न होवे।। ३४॥

और भी—

पल्लवादिष्वनुपपत्तेश्च॥ ३५॥

(च) और (पल्लवादिषु) कार्य-कारण का स्वरूपशक्ति नियम व्याप्ति है। इस मन्तव्य में दूसरा यह दोष है कि पल्लवादियों के दीखने पर वृक्ष आदि का अनुमान होता है। वहां कार्य का स्वरूपशक्तिमात्र निजकारण से पृथक् होता हुआ भी है। तब कटे हुए पल्लवादियों में(अनुपपत्तेः) यहां वृक्ष है इस प्रकार अनुमान की अयुक्तता हो जावेगी क्योंकि वहां वृक्ष आदि नहीं है केवल पल्लव आदि ही हैं, अतः स्वरूप शक्ति का नियम व्याप्ति नहीं है॥ ३५॥

किन्तु—

आधेयशक्तिसिद्धौ निजशक्तियोगः समानन्यायात्॥ ३६ ॥

(आधेयशक्तिसिद्धौ) आधेयशक्तियोग व्याप्ति कही है। उस आधेय शक्ति सिद्धि में=कार्यकारण रूप आधार में रहने वाली आधेयशक्ति= कार्यकारण का नियत धर्म सहभाव व्याप्ति की सिद्धि (निजशक्तियोगः) कार्यकारण की कार्यत्व कारणत्व रूप निज शक्ति व्याप्ति है ही। क्योंकि (समानन्यायात्) कार्यकारण के सहभाव का स्वीकार होने से व्याप्तिलक्षण दोषयुक्त नहीं॥ ३६ ॥

धर्मरूप कर्म की फलसिद्धि में अनुमान का स्वरूप कह दिया, जो अनुमान लिंग को लक्ष्य करके प्रवृत्त होता है। अब उसी के सम्बन्ध में शब्दप्रमाण शब्द अर्थ को आश्रित कर प्रसिद्ध होता है। उन शब्द अर्थ में क्या सम्बन्ध है यह कहते हैं—

वाच्यवाचकभावः सम्बन्धः शब्दार्थयोः॥ ३७॥

(शब्दार्थयोः) शब्द और अर्थ का (सम्बन्धः) परस्पर सम्बन्ध (वाच्यवाचकभावः) वाच्यवाचक भाव है, उनमें शब्द वाचक=कहने वाला और अर्थ वाच्य=कहे जाने में अभीष्ट है॥ ३७॥

उस वाच्यवाचक सम्बन्ध की सिद्धि के उपाय को कहते हैं—

त्रिभिः सम्बन्धसिद्धिः॥ ३८॥

(त्रिभिः सम्बन्धसिद्धिः)तीन प्रकारों से—आप्तोपदेश से, वृद्ध-व्यवहार से, प्रसिद्धपद सहचार से शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की सिद्धि होती है। आप्तोपदेश से—'सास्नावती गौः' सास्ना=गले में लटकने वाली मांस झालर वाली गौ है। वृद्ध व्यवहार से—'वत्स, गामानय दोहनाय'= बच्चे! गौ को लाओ दोहने के लिये। प्रसिद्ध पदसहचार से—'गुरुर्गां दोग्धि'=गुरु गौ को दोहता है॥ ३८ ॥

क्यों जी, शब्द का प्रामाण्य क्रियार्थ ही है या वस्तुस्वरूप-प्रदर्शनार्थ भी है। इस पर कहते हैं—

न कार्ये नियम उभयथा दर्शनात्॥ ३९ ॥

(कार्ये नियमः—न) शब्द का प्रामाण्य क्रियार्थ ही है यह नियम नहीं। क्योंकि (उभयथा दर्शनात्)मन्त्रात्मक शब्द क्रियार्थ और वस्तुस्वरूपप्रदर्शनार्थ दोनों प्रयोजन देखे जाते हैं—"**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः**" (यजु० ४०। २)=कर्मों को करते हुए सौ वर्षों तक वा बहुत वर्षों तक मनुष्य को जीने की इच्छा करनी चाहिए। यह

क्रियाविधान है—''**अग्निर्होता कविः क्रतुः सत्यश्चित्रः**'' (ऋ० १।१।३)=अग्नि होता है, कवि है, क्रतु है, सत्य है, चित्र है, श्रवस्तम है। तथा ''**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**'' (तै० ३।२।१।१)=ब्रह्म सत्यस्वरूप ज्ञानस्वरूप और अनन्त है। यह स्वरूप वर्णन है॥ ३९॥

लोक में तो व्यवहार से शब्द जाने हुए सम्बन्ध वाले होते हैं, वैदिक शब्दों की अर्थप्रतीति कैसे हो इस विषय में कहते हैं—

लोक (वद्)* व्युत्पन्नस्य वेदार्थप्रतीतिः॥ ४०॥

(लोकवत्—व्युत्पन्नस्य) जैसे लोक में=लौकिक शब्दों में व्युत्पन्न जन वाच्यवाचक सम्बन्ध को जाने हुए लौकिक शब्दों के अर्थों को जान सकता है उसी प्रकार (वेदार्थप्रतीतिः) वैदिक शब्दों में व्युत्पन्न जन वाच्यवाचक सम्बन्ध को, जाने हुए वेदार्थ को, वैदिक शब्दों के अर्थों को भी जान जाता है, वाच्यवाचक सम्बन्ध की समानता से॥ ४०॥

लोक में व्युत्पन्न की वेद में व्युत्पन्न की वेदार्थप्रतीति कहते हो, हाँ वेद में भी वेदार्थप्रतीति हो परन्तु वेद में व्युत्पन्नता हो कैसे? लोक में तीन उपायों से—आप्तोपदेश, वृद्धव्यवहार, प्रसिद्धपदसहचार से लौकिक शब्दों में मनुष्य की व्युत्पन्नता हो जावेगी, किन्तु वेद में—

न त्रिभिरपौरुषेयत्वाद् वेदस्य
तदर्थस्याप्यतीन्द्रियत्वात्॥ ४१॥

(वेदस्य) वेद के (अपौरुषेयत्वात्) अपौरुषेय होने से=मनुष्यकृत न होने से (तदर्थस्य) उसके अर्थ के (अतीन्द्रियत्वात्- अपि) और फिर अतीन्द्रिय होने से भी (त्रिभिः—न) तीनों उपायों से-आप्तोपदेश, वृद्धव्यवहार, प्रसिद्धपदसहचार से सम्बन्ध नहीं होता, फिर कैसे वैदिक शब्दों में मनुष्य कैसे व्युत्पन्न हो? नहीं हो सकता। यह पूर्वपक्ष का कथन है॥ ४१॥

अब समाधान करते हैं। प्रथम वेदार्थ के अतीन्द्रियत्व का समाधान करते हैं—

न यज्ञादेः स्वरूपतो धर्मत्वं वैशिष्ट्यात्॥ ४२॥

(न) वेदार्थ का अतीन्द्रियत्व नहीं=वेदार्थ अतीन्द्रिय नहीं है

---

* ''लोकव्युत्पन्नस्य अनिरुध्यः पाठः लोके व्युत्पन्नस्य विज्ञानभिक्षोः, ''लोकवद्'' युक्तः पाठः।''

(यज्ञादेः) यज्ञ, दान, अध्ययन के (वैशिष्ट्यात्) विशिष्टविधिपूर्वक अनुष्ठान से (स्वरूपः—धर्मत्वम्) स्वरूपतः=उस उस के व्यवहार से=प्रत्यक्षरूप से धर्मफल उपलब्ध होता है ही, अतः वेदार्थ अतीन्द्रिय नहीं॥ ४२॥

जो यह कहा है कि अपौरुषेयत्व से वेद का तीन उपायों से सम्बन्ध न होने से वैदिक शब्दों में मनुष्य की व्युत्पत्ति न हो सके, इसका उत्तर देते हैं—

निजशक्तिर्व्युत्पत्त्या व्यवच्छिद्यते॥ ४३॥

(निजशक्तिः) वेद के अपौरुषेय होते हुए भी वैदिकशब्दों की अर्थ में निज शक्ति=स्वाभाविकी शक्ति है क्योंकि शब्द बिना अर्थ के नहीं होता "**शब्दार्थ सम्बन्धो नित्यः**" (महाभाष्य-व्याकरण) शब्द-अर्थ-सम्बन्ध नित्य होते हैं। शब्दों के साथ अर्थ का सम्बन्ध अवश्य होता है, वह स्वाभाविकी अर्थशक्ति (व्युत्पत्त्या व्यवच्छिद्यते) व्युत्पत्ति से विशेषतः सम्बन्ध रखती है। उस व्युत्पत्ति से मनुष्य भी वेदज्ञान में व्युत्पन्न हो जाता है और वह व्युत्पत्ति आदि महर्षियों ने अध्यात्म प्रत्यक्ष से साक्षात् की है और फिर नैरुक्तशैली से निर्वचन द्वारा शिष्यों के लिये विश्लेषण करके पृथक्-पृथक् विभाग करके जनाई जाती है, अतः दोष नहीं॥ ४३॥

इस प्रकार—

योग्यायोग्येषु प्रतीतिजनकत्वात् तत्सिद्धिः॥ ४४॥

(योग्यायोग्येषु) इन्द्रिययोग्य लौकिक शब्दार्थों में तथा इन्द्रिय-अयोग्य अतीन्द्रिय वैदिक शब्दार्थों में (प्रतीतिजनकत्वात्) ज्ञानजनकत्व समान होने से (तत्सिद्धिः) व्युत्पत्ति की सिद्धि हो जाती है, जिस से वेदार्थज्ञान में मनुष्य व्युत्पन्न हो जाता है॥ ४४॥

यद्यपि वैदिक शब्दों की अर्थ में स्वाभाविकी शक्ति है, तथापि—

न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्वश्रुतेः॥ ४५॥

(वेदानां नित्यत्वं न) स्वाभाविक अर्थशक्तिवाले होते हुए भी वेदों=मन्त्र-समूहों का नित्यत्व वैसा ही वर्तमानत्व नहीं है (कार्यत्वश्रुतेः) उनके कार्य होने में श्रुति पाए जाने से—"**तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत**" (यजु० ३१।७) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद उत्पन्न हुए ऐसा कहा है। "**त्रयो वेदा अजायन्त**" (शत० ११।५।८।३)=तीन वेद ज्ञान-कर्म-उपासना रूप उत्पन्न हुए॥ ४५॥

वेदों का यद्यपि कार्यत्व प्रतिपादन किया जाता है तथापि उनका—

न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्॥ ४६॥

(पौरुषेयत्वं न) पुरुषकृतत्व नहीं, किन्तु उससे भिन्न ईश्वर का कार्य है, उसने किए हैं, जैसे कहा है—"**तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे**"'' (यजु० ३२।७)=उस यज्ञरूप=यजनीय=सङ्गमनीय ईश्वर से ऋग्वेद आदि उत्पन्न हुए। पुरुषकृत वेद क्यों नहीं हैं (तत्कर्तृः पुरुषस्य—अभावात्) उनके कर्ता पुरुष नहीं होने से॥ ४६॥

कैसे कहते हो उनके कर्ता पुरुष का अभाव है, जबकि पुरुष मुक्त और बद्ध हैं। इस पर कहते हैं—

न मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात्॥ ४७॥

(मुक्तामुक्तयोः—न) वेदों का कर्ता मुक्त और बद्ध में से कोई नहीं हो सकता (अयोग्यत्वात्) अयोग्यता से। मुक्त का ऐश्वर्य जगत् के व्यापार को छोड़कर होता है, इसलिये तथा प्रयोजनाभाव से, और बद्ध का सामर्थ्याभाव से। अतः सर्वज्ञ जगदीश्वर ही वेदों का कर्ता है॥ ४७॥

यह कैसे? वेदों का अपौरुषयत्व भी कहते हो और नित्यत्व भी हटाते हो। इस आकांक्षा पर कहते हैं—

नापौरुषेयत्वान्नित्यत्वमंकुरादिवत्॥ ४८॥

(अपौरुषेयत्वात्) वेदों के अपौरुषेय होने से (नित्यत्वं न—अंकुरादिवत्) नित्यत्व नहीं, अंकुर आदि के समान। जैसे अंकुर, शाखा, पत्र, फूल, फल अपौरुषेय हैं किन्तु नित्य नहीं, वे भी वेद की भांति ईश्वरकृत कार्य हैं। तथापि जैसे अंकुरादि प्रवाह से नित्य हैं प्रतिकल्प में प्रवृत्त होने से, एवं ज्ञानरूप वेद तो नित्य है ही॥ ४८॥

फिर—

तेषामपि तद्योगे दृष्टबाधादिप्रसक्तेः॥ ४९॥

(तेषाम्—अपि तद्योगे) अंकुर आदियों का भी पुरुषकृत स्वीकार किया जावे तो (दृष्टबाधादिप्रसक्तेः) लोकदृष्ट का बाध और अदृष्टकल्पना का दोषप्रसंग आजावे, लोकदृष्ट प्रत्यक्ष का बाध तथा अयुक्त अनुमान की कल्पना का दोष आजावे॥ ४९॥

वस्तुतः—

यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत्पौरुषेयम्॥ ५०॥

(यस्मिन्—अदृष्टे—अपि) जिस अदृष्ट कर्तृत्व योग में भी

(कृतबुद्धिः—उपजायते) पुरुषकृत का निश्चय होजावे (तत् पौरुषेयम्) वह पुरुषकृत=पुरुषकार्य है। वैसा अंकुर आदि में नहीं होता, न वेदों में है॥ ५०॥

वेदों का तो—

निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्॥ ५१॥

(निजशक्त्यभिव्यक्तेः) वेदों के तो स्वाभाविक शक्ति से अभिव्यक्तिवाले होने से=अपौरुषेयशक्ति से जगदीश्वर की निज शक्ति से अभिव्यक्तिवाले होने से (स्वतः प्रामाण्यम्) स्वतः प्रामाण्य है, न कि परतः प्रामाण्य पौरुषेयों की भांति॥ ५१॥

अब ४५ वें सूत्र से लेकर ५१ वें सूत्र पर्यन्त सूत्रक्रम का अन्य व्याख्यामार्ग—

यह कैसे कहते हो कि वैदिक शब्दों की अर्थ में स्वाभाविक शक्ति है जबकि—

न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्वश्रुतेः॥ ४५॥

(वेदानां नित्यत्वं न) वेदों का नित्यत्व नहीं है, वेद नित्य नहीं हैं (कार्यत्वश्रुतेः) उनके कार्य होने की श्रुति देखने से—"**तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत**" (ऋ० १०। ९०। ९) "**त्रयो वेदा अजायन्त**" (शत० ११। ५। ८। ३)॥ ४५॥

समाधान करता है—

न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्॥ ४६॥

(तत्कर्तुः पुरुषस्य—अभावात् पौरुषेयत्वं न) वेदों का कार्यत्व कहते हो और कार्यत्व को आश्रित करके ही उनका अनियत्व साधते हो परन्तु कार्य का कर्ता होना चाहिए किन्तु 'तत्कर्तुः पुरुषस्य अभावात्'= वेदों के कर्ता पुरुष के अभाव से 'पौरुषेयत्वं न'=पुरुषकृतत्व कार्य नहीं है। पुनः कार्यत्व का अवलम्बन करके वेदों का अनित्यत्व सिद्ध नहीं होता॥ ४६॥

कैसे वेदों के कर्ता पुरुष का अभाव है। इस पर कहते हैं—

न मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात्॥ ४७॥

(मुक्तामुक्तयोः—न) वेदों का कर्ता मुक्त बद्ध में से कोई नहीं हो सकता (अयोग्यत्वात्) उनकी योग्यता के अभाव से। मुक्त का ऐश्वर्य

जगद्व्यापार-रहित होता है—"**जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहित-त्वाच्च**" (वेदा० ४।४।१७) तथा प्रयोजन के अभाव से भी, बद्ध के अल्पज्ञ होने से। जो श्रुति वेदों के कार्यत्व साधने को प्रदर्शित की है उसमें तो वेदों का जायमानत्व कहा है, कार्यत्व नहीं। जायमानत्व प्रादुर्भाव को कहते हैं "**जनी प्रादुर्भावे**" (दिवा०)। वेद प्रादुर्भूत [=प्रकट] हुए हैं। इससे वेदों का कार्यत्व नहीं, कार्यत्व के अभाव से वेदों का नित्यत्व है। इस में क्षति नहीं॥ ४७॥

फिर पूर्वपक्षरूप से कहते हैं—

नापौरुषेयत्वान्नित्यत्वमंकुरादिवत्॥ ४८॥

(अपौरुषेयत्वात्—नित्यत्वं न—अंकुरादिवत्) भले ही वेदों का अपौरुषयत्व हो, जायमानत्व तो श्रुति में प्रतिपादित है, इस अपौरुषेयत्वहेतु से ही उनका नित्यत्व नहीं है, जायमानत्व धर्म से अंकुरादि के समान। जैसे अंकुर, शाखा, पत्ते, फूल, फल अपौरुषेय हैं परन्तु जायमान होने से नित्य नहीं, वैसे ही वेद भी जायमान होने से अनित्य हैं, अन्यथा अंकुर आदि भी नित्य हो जावेंगे॥ ४८॥

दृष्टान्त की असिद्धि से समाधान करते हैं—

तेषामपि तद्योगे दृष्टबाधादिप्रसक्तिः॥ ४९॥

(तेषां तद्योगे—अपि) अंकुर आदि के अपौरुषेय योग में भी नित्यत्व नहीं। 'न नित्यत्वम्' का पूर्वसूत्र से अनुवर्तन है। अंकुरादि का नित्यत्व क्यों नहीं? इसलिये कि (दृष्टबाधादिप्रसक्तिः) अंकुर, शाखा, पत्र, फूल, फल क्रमशः नष्ट हुए देखे जाते हैं। इस प्रकार दृष्ट का बाधप्रसंग और फिर बीज से उगेंगे, इस अनुमान की हानि का प्रसंगदोष आता है, अतः अंकुर आदि दृष्टान्त की असिद्धि से वेदों के नित्यत्व का निराकरण युक्त नहीं। उनका तो नित्यत्व ही अपौरुषेय होने से है॥ ४९॥

वेदों का पौरुषेयत्व क्यों नहीं? उनके कर्ता पुरुष का अभाव कैसे है? क्या अदृष्ट होने से कि उनके कर्ता को किसी ने देखा नहीं, यह मानकर? इस पर कहते हैं—

यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत्पौरुषेयम्॥ ५०॥

(यस्मिन्—अदृष्टे—अपि) जिस अदृष्ट वस्तु में भी (कृतबुद्धिः) पुरुषकृतत्व बुद्धि=पुरुष द्वारा की गई है ऐसी बुद्धि, पुरुष का कार्य होने की बुद्धि (उपजायते) निश्चित हो जावे=उपपन्न हो जावे (तत् पौरुषेयम्)

वह पुरुषकृत जानना चाहिए, वैसे वेद नहीं हैं। वे प्रादुर्भूत हुए ज्ञानदृष्टि से नित्य हैं॥ ५०॥

अतः—

निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्॥ ५१॥

(निजशक्त्यभिव्यक्तेः) वेदों के कृतत्व के अभाव में=मनुष्य—कृत न होने पर, निजशक्ति से=शाश्वती स्वाभाविक शक्ति से अभिव्यक्त होने=प्रादुर्भूत होने से। जैसे कहा है—"**अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः**" (शत० १४।५।४।१०)= इस महान् परमात्मा के निःश्वास की भांति स्वाभाविक रूप में प्रकट हुए ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद हैं। "**स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च**" (श्वेता० ६।८)=परमात्मा की ज्ञान क्रिया स्वाभाविकी है। अतः वेदों का (स्वतः प्रामाण्यम्) स्वतः प्रमाणत्व है॥ ५१॥

हो वेदों की निजशक्ति से अभिव्यक्ति=अभिव्यक्तता प्रादुर्भाव-दर्शन, क्योंकि "**न-अभिव्यक्तिनिबन्धनौ व्यवहाराव्यवहारौ**" (सांख्य० १।१२०) इस सूत्र में जगत् का भी सांख्य मत में अभिव्यक्तता=प्रादुर्भाव—प्रकाश कहा है। श्रुति में जो जायमानत्व वेदों और जगत् का कहा है "**तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत**" (ऋ० १०।४०।९) "**द्यावाभूमी जनयन् देव एकः**" (यजु० १७।१९) 'जन' धातु प्रादुर्भाव अर्थ में होने से। इस प्रकार वेदों का और जगत् का प्रादुर्भाव या दर्शन क्या असद्रूप से होता है या कैसे होता है? इस आकांक्षा पर कहते हैं—

नासतः ख्यानं नृशृङ्गवत्॥ ५२॥

(असतः ख्यानं न) वेदों और जगत् का ख्यान=अभिव्यक्तत्व= प्रादुर्भाव या दर्शन असद्रूप से नहीं होता है, असत् वस्तु का ख्यान= दर्शन नहीं होता है (नृशृङ्गवत्) नृशृङ्ग की भांति। अतः शुक्ति में रजत की भांति जगत् नहीं, शुक्ति में रजतदर्शन भी अन्यत्र होते हुए रजत का होता है, असत् का नहीं॥ ५२॥

अच्छा तो सद्रूप वेदों का तथा सद्रूप जगत् का ख्यान है? उत्तर में—

न सतो बाधदर्शनात्॥ ५३॥

(सतः—न) सद्रूप वेदों का और सद्रूप जगत् का वैसे ही रूप में अभिव्यक्तत्व=प्रादुर्भाव या ख्यान नहीं है। क्योंकि (बाधदर्शनात्) बाध

देखने से। बाध यहां अभाव है, अभाव देखने से=वस्तु का अभाव देखने से। न सर्वकाल में वेद हैं न सर्वकाल में जगत् है, प्रलय में अभाव हो जाने से। अतः विज्ञानात्मक जगत् का या अनादि से वर्तमान जगत् का ख्यान है यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सर्वकाल में वर्तमान वस्तु ख्यान=अभिव्यक्तत्व युक्त नहीं, अभिव्यक्त के भावाभावधर्मी होने से॥ ५३॥

तो जो वस्तु का अभिव्यक्तस्वरूप न असद्रूप से न सद्रूप से किन्तु उनसे विलक्षण अनिर्वचनीय हो। इस पर कहते हैं—

नानिर्वचनीयस्य तदभावात्॥ ५४॥

(अनिर्वचनीयस्य न) अनिर्वचनीय के सद्रूप—असद्रूप से भिन्न का अभिव्यक्तत्व=प्रादुर्भाव, ख्यान, दर्शन हो यह भी नहीं (तदभावात्) उस सत्-असत् से भिन्न वस्तु के अविद्यमान से असम्भव से। यदि ऐसी वस्तु का भाव हो=विद्यमानता हो तो वह निर्वचनीय हो जावे। अतः जगत् का अभिव्यक्तत्व=दर्शन सत्-असत् से भिन्न होने से नहीं॥५४॥

अच्छा तो जगत् का दर्शन अन्यथा मिथ्या हो। इस पर कहते हैं—

नान्यथाख्यातिः स्ववचोव्याघातात्॥ ५५॥

(अन्यथाख्यातिः—न) दृश्यमान जगत् का अन्यथा ख्यान=मिथ्या अभिव्यक्तत्व या दर्शन भी सम्भव नहीं। क्योंकि (स्ववचोव्याघातात्) स्वकथन विरोध से। कहते हो—'यह जगत् है', पुनः अन्यथा उसे मिथ्या भी कहते हो, 'है' और 'नहीं' है, यह वचनविरोध है। सत् का अन्यथापन मिथ्यापन नहीं होता। तथा अन्यरूप से अवभासित होता है जगत्, जैसे चांदीरूप से सीपी अवभासित होती है, यह वचनविरुद्ध है, जबकि जगत् का असत्त्व है, तब असत्त्व सत्त्वरूप से भासित हो इसका अवसर नहीं, सबके मिथ्या होने से। फिर कौन किस रूप में अवभासित हो? अतः शुक्ति में रजत की भांति अन्यथा अभिव्यक्ति=ख्याति जगत् की नहीं॥ ५५॥

वस्तुतः—

सदसत्ख्यातिर्बाधाबाधात्॥ ५६॥

(सदसत्ख्यातिः) सदसत् ख्याति है=जो वस्तु प्रादुर्भूत होती है उसका सदसत् ख्याति=अभिव्यक्ति या दर्शन होता है। वेदों का और जगत् का भी प्रादुर्भाव=अभिव्यक्ति सद्-असद् रूप से जानना चाहिए (बाधाबाधात्) अबाध से=जब तक बाध अभाव न हो तब तक सद्रूप

से ख्याति दर्शन या वर्तमानत्व होता है। पुनः बाध से=जब बाध अभाव हो तब असद् रूप से वर्तमानत्व होता है। अथवा बाध से=सद्रूप बाध से, क्योंकि सद्रूप से विद्यमान का बाध प्रलय में अभाव होता है, अतः सद्रूप है। पुनः असद्रूप है अबाध से क्योंकि असद्रूप से वर्तमान का अनभिव्यक्त का अभाव नहीं होता है। अतः जगत् पर्याय से वारी-वारी से सद्-असद् धर्मवाला है। नहीं नितान्त सत् और न नितान्त असत्॥ ५६॥

अब शब्द के विषय में सांख्यसिद्धान्तपक्ष विपक्ष द्वारा प्रदर्शित करते हैं—

प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः॥ ५७॥

(स्फोटात्मकः शब्दः—न) वाणी से उच्चारण किया हुआ कानों से सुननेवाला शब्द ध्वन्यात्मक है। फिर उच्चारण के अनन्तर अर्थ के स्फुट करने के हेतु ध्वन्यात्मक से भिन्न स्फोटात्मक कल्पित किया जाता है। वह सांख्यसिद्धान्त में स्वीकार नहीं किया जाता, अतएव कहते हैं स्फोटात्मक शब्द नहीं है। क्योंकि (प्रतीत्यप्रतीतिभ्याम्) वस्तु का अस्तित्व-अनास्तित्व या सत्ता-असत्ता के सिद्ध करने वाले साधन प्रतीति और अप्रतीति हैं। जिस की प्रतीति है अतः वह है, पश्चात् स्फोटात्मक जो कल्पित किया जाता है उसकी प्रतीति नहीं होने से वह नहीं है। अतः स्फोटात्मक शब्द सांख्यसिद्धान्त में स्वीकार नहीं किया जाता है॥ ५७॥

क्यों जी, स्फोटात्मक शब्द स्वीकार नहीं करते तो क्या शब्द को नित्य स्वीकार करते हैं? इस पर कहते हैं—

न शब्दनित्यत्वं कार्यताप्रतीतेः॥ ५८॥

(शब्दनित्यत्वं न) शब्द का नित्यत्व नहीं=शब्द नित्य नहीं, क्योंकि (कार्यताप्रतीतेः) कार्यता प्रतीति से, प्रत्यक्ष उच्चारण से शब्द उत्पन्न होता है॥ ५८॥

क्यों जी, सांख्य मत में शब्द स्फोटात्मक नहीं मानते और न शब्द का नित्यत्व स्वीकार करते हैं। तब शब्दोच्चारण के पश्चात् उसके दोनों प्रकार से स्थिर न होने से अर्थप्रतीति कैसे होगी? इस पर कहते हैं—

पूर्वसिद्धसत्त्वस्याभिव्यक्तिर्दीपेनेव घटस्य॥ ५९॥

(पूर्वसिद्धसत्त्वस्य) उच्चारण किये शब्द से पूर्वसिद्ध अर्थ वस्तु की (अभिव्यक्तिः) अभिव्यक्ति=प्रकटता होती है (दीपेन—इव घटस्य) जैसे दीपक द्वारा पूर्व से विद्यमान घड़े की अभिव्यक्ति=प्रकटता होती है।

दीपक से देखे घड़े को उठाकर मनुष्य चल देता है। घड़े को देखने के समय दीपक की आवश्यकता है, घड़े को स्वायत्त कर लेने पर नहीं। दीपदृष्टान्त का प्रकाशक धर्ममात्र ग्रहण है, अतः शब्द की स्फोटात्मकता से नित्यभाव से स्थिरता अपेक्षित नहीं॥ ५९॥

ऐसे तो सत्कार्यसिद्धान्त आ जाता है। इस पर कहते हैं—

सत्कार्यसिद्धान्तश्चेत् सिद्धसाधनम्॥ ६०॥

(सत्कार्यसिद्धान्तः—चेत्) सत्कार्य सिद्धान्त यदि आ जावे तो (सिद्धसाधनम्) सांख्याभिमत सिद्ध का साधन है वह तो अभीष्ट है ही, अतः दोष नहीं॥ ६०॥

अब अन्तिम दो सूत्रों का अन्य अर्थ करते हैं। उसमें पुनः पूर्वपक्षरूप से कहते हैं—

पूर्वसिद्धसत्त्वस्याभिव्यक्तिर्दीपेनेव घटस्य॥ ५९॥

(पूर्वसिद्धसत्त्वस्य) जब कि शब्द स्फोटात्मक नहीं और न नित्य है तब तो पूर्वसिद्ध सत्त्व=स्वरूप जिसका है ऐसे अर्थ=वस्तु की (अभिव्यक्तिः) उच्चारण से अभिव्यक्ति=प्रकटता होती है, सत्कार्यता से (दीपेन—इव घटस्य) जैसे दीपक के द्वारा सद्रूप में पूर्व से वर्तमान घड़े की अभिव्यक्ति=प्रकटता होती है, यह मानना चाहिए॥ ५९॥

उत्तर देते हैं—

सत्कार्यसिद्धान्तश्चेत् सिद्धसाधनम्॥ ६०॥

(सत्कार्यसिद्धान्तः—चेत्) यह पूर्व से विद्यमान का अभिव्यक्तिवाद 'सत्कार्यसिद्धान्त' तो सांख्य में अभीष्ट है, यदि वह आ जावे तो (सिद्धसाधनम्) सांख्य में सिद्ध पक्ष का साधन है, दोष नहीं॥ ६०॥

सत्कार्यवाद, सद्-असद्रूप से वस्तु का ख्यान, जीवात्मा के कर्मवश जगत् की विविधता, जीवात्मा और प्रकृति की सत्ता को आश्रित करके साधते हैं, परन्तु प्रकृति और जीवात्मा हों, किन्तु ब्रह्मात्मा से स्वरूपतः भिन्न वस्तु हैं या नहीं, इस कल्पना का निराकरण करते हैं—

नाद्वैतमात्मनो लिंगात् तद्भेदप्रतीतेः॥ ६१॥

(आत्मनः—अद्वैतं न) आत्मा एक नहीं। न ही केवल ब्रह्मात्मा किन्तु जीवात्मा भी है, क्योंकि (लिङ्गात् तद्भेदप्रतीतेः) ब्रह्मात्मा जीवात्मा के पृथक्-पृथक् लिङ्ग से उनके भेद प्रत्यक्ष होने से, जैसा कि "**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते तयोरन्यः पिप्पलं**

स्वाद्वत्त्यनश्नन्योऽभिचाकशीति'' (ऋ० १।१६४।२०) यहां कहा है कि जीवात्मा फलभोक्ता है और परमात्मा साक्षी मात्र है॥ ६१॥

प्रकृति के साथ ब्रह्मात्मा का अभेद हो सो ऐसा भी यदि मान लें, तो उत्तर देते हैं—

नानात्मनाऽपि प्रत्यक्षबाधात्॥ ६२॥

(अनात्मना—अपि न) अनात्मा=जड़=प्रकृतिनामक प्रधान के साथ भी अद्वैत=एकता नहीं है। जिससे (प्रत्यक्षबाधात्) प्रत्यक्षबाध से=प्रत्यक्ष ही दिखलाई पड़ता है प्रकृति का परिणाम, जगत् नष्ट होने वाला है, उस में भी परिणाम=नश्वरधर्मता आजावे किन्तु वह तो प्रकृति को परिणाम देता है—**''एकं बीजं बहुधा यः करोति''** (श्वेता० ६।१२)=एक बीज को जो बहुधा करता है॥ ६२॥

दोनों—प्रकृति जीवात्मा के साथ एक साथ एकता को प्राप्त हो जावें। इस पर कहते हैं—

नोभाभ्यां तेनैव॥ ६३॥

(उभाभ्यां न तेन—एव) दोनों अर्थात् प्रकृति जीवात्मा के साथ भी अद्वैत=एकता नहीं होती है, पूर्वोक्त लिङ्गभेद प्रत्यक्ष बाधारूप हेतु से॥ ६३॥

कैसे फिर अद्वैत कथन श्रुति में है—**''आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्''** (ऐ० उ० १।१।१)=आत्मा ही यह एक पूर्व था। इस पर कहते हैं—

अन्यपरत्वमविवेकानां तत्र॥ ६४॥

(तत्र—अविवेकानां) उस श्रुति में अद्वैतकल्पना विवेकरहितों की ही है, क्योंकि (अन्यपरत्वम्) श्रुति का अन्यपरत्व है=सृष्टिरचनापरत्व है अर्थात् श्रुति सृष्टिरचनापरक है, न कि अद्वैतप्रतिपादनपरक **''आत्मा वा इदमेवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत् स ईक्षते लोकान्नु सृजा इति''** (ऐ० उ० १।१।१)। सृष्टि से पूर्व चेष्टमान ब्रह्मात्मा ही था, जीवात्माएं निश्चेष्ट थे, प्रकृति भी निश्चेष्टा थी॥ ६४॥

अच्छा, हो सृष्टि रचनापरक श्रुति परन्तु परमात्मा का जगत् कारण होना उपादानरूप से है या नहीं, इस पर कहते हैं—

नात्माऽविद्या नोभयं जगदुपादानकारणं
निःसंगत्वात्॥ ६५॥

(आत्मा—अविद्या जगदुपादानकारणं न—उभयं न निःसंगत्वात्)

ब्रह्मात्मा जगत् का उपादान कारण नहीं निसङ्ग होने से, उपादान अन्य को संगत होकर कार्यरूप में भासित होता है, जैसे मिट्टी उपादान कुम्हार को और दण्ड-चक्र आदि को संगत होकर घटरूप से कार्यरूप में हो जाता है। पुरुष असङ्ग है, अविद्या भी उपादान कारण नहीं, अविद्या अवस्तुरूप है और अवस्तु संसर्ग में समर्थ नहीं, ब्रह्मात्मा और अविद्या दोनों परस्पर सङ्गत होकर उपादान कारण नहीं। नि:सङ्गता से वस्तु-अवस्तु का सङ्ग नहीं होता। इस प्रकार सांख्यमत में ब्रह्मात्मा जगत् का उपादान कारण नहीं किन्तु उपादान कारण न होकर निमित्तकारण है इसका निषेध नहीं, अत: निमित्त कारण है॥ ६५॥

आत्मा के एकत्व का निराकरण कर दिया, परमात्मा और जीवात्मा हैं, उसमें विशेष निश्चय करते हैं—

नैकस्यानन्दचिद्रूपत्वे द्वयोर्भेदात्॥ ६६॥

(द्वयो:—एकस्य—आनन्दचिद्रूपत्वे न) परमात्मा और जीवात्मा इन दोनों में एक के अर्थात् जीवात्मा के आनन्दरूप और चेतनत्व धर्म नहीं हैं। वह तो चेतनरूप ही है, क्योंकि (भेदात्) भेद से वर्णन होने से—**"रसो वै स:, रसं ह्येवायं लध्वाऽऽनन्दी भवति"** (तै० उ० २। ७)=वह ब्रह्मात्मा रस है रस को प्राप्त कर आनन्दी होता है। यहां स्पष्ट कहा है कि आनन्द जीवात्मा में नहीं है, चेतनता ही है तथा आनन्द तो परमात्मा में ही है। उस आनन्दरूप को प्राप्त करके ही जीवात्मा आनन्द को अनुभव करता है॥ ६६॥

जीवात्मा स्वरूप से आनन्दरूप न हो परन्तु मुक्ति में तो वह आनन्दरूप हो। इस पर कहते हैं—

दु:खनिवृत्तेर्गौण:॥ ६७॥

(दु:खनिवृत्ते:—गौण:) मुक्ति में दु:खनिवृत्ति हो जाने से वहां आत्मा आनन्दरूप हो जाता है, यह गौण कथन है मुख्य नहीं। तब वह वस्तुत: आनन्दरूप नहीं होता है किन्तु आनन्दी हो जाता है। उस आनन्दरूप परमात्मा के साथ धन के योग से धनी की भांति॥ ६७॥

तब आनन्दरूपता उसकी—

विमुक्तिप्रशंसा मन्दानाम्॥ ६८॥

(विमुक्तिप्रशंसा मन्दानाम्) मुक्ति में आनन्द की अभिव्यक्ति, विमुक्ति की प्रशंसा मन्दों की दृष्टि में है, विवेकी जनों के लिये तो

दुःखनिवृत्ति है ॥ ६८ ॥

दुःखनिवृत्ति मुक्ति है, आनन्द गौणभाव से प्रशंसार्थ कहा जाता है क्योंकि आनन्द-सुख, पुनः सुखदुःख की अनुभूति मन से होती है। मन व्यापक नहीं है जो मुक्ति में भी उससे आनन्द की अनुभूति हो, यही कहते हैं—

न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा वास्यादिवच्चक्षुरादिवत् ॥ ६६ ॥

(मनसः—व्यापकत्वं न) मन का विभुत्व नहीं है (करणत्वात्—वास्यादिवत्) करण-उपकरण=साधन होने से कुठार आदि के समान (वा) अथवा (इन्द्रियत्वात्—चक्षुरादिवत्) ग्यारह इन्द्रियों में उसके इन्द्रियभाव होने से नेत्र आदि के समान। जैसे कुठार आदि साधन नेत्र आदि इन्द्रियां व्यापक=सर्वत्र व्यापारसाधक नहीं होतीं, इसी प्रकार मन भी व्यापक=सर्वत्र व्यापारसाधक नहीं है ॥ ६९ ॥

उसी से दूसरा हेतु—

सक्रियत्वाद् गतिश्रुतेः ॥ ७० ॥

(सक्रियत्वात्) मन के क्रियावाला=क्रियामय=परिणाम क्रियामय होने से तथा (गतिश्रुतेः) उसके सम्बन्ध में गति की श्रुति होने से—**"यद् वो मनः परागतं यद् बद्धमिह वेह वा। तद् व आवर्तयामसि....."** (अथर्व० ७। १३। ४)=जो तुम्हारा मन दूर चला गया जो इधर उधर बन्धा है, उसे हम लौटाते हैं। **"गच्छतीव च मनः"** (केनो० ४। ५)=मन जाता-सा है। अतः मन व्यापक नहीं है ॥ ७० ॥

अच्छा, मन व्यापक न हो किन्तु अणु हो, जैसे जीवात्मा अणु है, वह मोक्ष में रहता है वैसे ही मन भी अणु होता हुआ मोक्षानन्द का परिचय करावे। इस पर कहते हैं—

न निर्भागत्वं तद्योगाद् घटादिवत्* ॥ ७१ ॥

(निर्भागत्वं न) अणु होने पर भी मन का भागरहितत्व नहीं, किन्तु भागवाला है (घटादिवत् तद्योगात्) भागयोग से घट आदि की भाँति। जैसे घड़ा, वस्त्र, चटाई आदि पदार्थ अपने भागों से भी युक्त और प्रयुक्त होता है वैसे मन भी यह सबकी अनुभूति है। मन सब इन्द्रियों से एक साथ संयुक्त नहीं होता, सत्त्व, रज, तम भागों से लक्षित होता है ॥ ७१ ॥

* 'घटादिवत्' पाठोऽनिरुद्धस्य, 'घटवत्' विज्ञानभिक्षोः।

मन नित्य हो उसका जीवात्मा के साथ नित्य सम्बन्ध होने से मोक्षानन्द की अनुभूति का निमित्त हो, इस आकांक्षा पर कहते हैं—

प्रकृतिपुरुषयोरन्यत् सर्वमनित्यम् ॥ ७२ ॥

(प्रकृतिपुरुषयोः—अन्यत्) प्रकृति-पुरुषों से भिन्न (सर्वम्—अनित्यम्) प्रकृति पुरुष से भिन्न सब वस्तु मात्र अनित्य है, नित्य नहीं, केवल मन ही अनित्य नहीं किन्तु प्रकृति-पुरुष को छोड़कर मन आदि सब अनित्य हैं ॥ ७२ ॥

भागों से युक्त पदार्थ अनित्य है, प्रकृति-पुरुष भागवाले नहीं, यह दिखलाते हैं—

न भागलाभो भोगिनो निर्भागत्वश्रुतेः ॥ ७३ ॥

*(भोगिनः—भागलाभः—न) भोग इसका है अतः भोगी जीवात्मा, तथा भोग जिस में है भोग की आश्रयभूता प्रकृति। सूत्र में 'भोगिनः' एकशेष और सामान्य से एकवचन है। भोगी=भोग का अनुष्ठान करनेवाले भोक्ता का तथा भोगवाले=भोग के अधिष्ठान प्रकृतिनामक अव्यक्त का भागलाभ—भागसिद्धि=अवयवयुक्तता नहीं है, भोग की ही सावयवता होती है, प्रकृति और पुरुष की नहीं (निर्भागत्वश्रुतेः) जीवात्मा और प्रकृति की निर्भागविषयक श्रुति होने से—"**अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्**" (श्वेता० ४।५)=अजन्मा जीवात्मा और अजन्मा प्रकृति को यहां कहा है। मन तो सभाग अवयववाला है, अतः उस का अनित्यत्व है, अनित्य होने से मुक्ति में वह आनन्दानुभूति का साधन है, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती है ॥ ७३ ॥

इस प्रकार—

नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मकत्वात् ॥ ७४ ॥

(आनन्दाभिव्यक्तिः—मुक्तिः—न) आनन्द का प्रादुर्भाव मुक्ति नहीं (निर्धर्मकत्वात्) आत्मा के आनन्दरूप धर्म से रहित होने से ॥ ७४ ॥

अच्छा, आत्मा के विशेष गुण का नाश मुक्ति हो जिस से वह बन्धता है। इस पर कहते है—

न विशेषगुणोच्छित्तिस्तद्वत् ॥ ७५ ॥

(विशेषगुणोच्छित्तिः—न तद्वत्) विशेष गुण का उच्छेद भी मुक्ति नहीं पूर्वोक्त हेतु से, आत्मा के निर्धर्मकत्व से। जैसे आत्मा का आनन्द

* 'भोगिनो' पाठ विज्ञानभिक्षु का है। 'भागिनी' अनिरुद्ध का।

गुण नहीं जो मुक्ति में प्रकट हो, वैसे ही ऐसा गुण भी नहीं जिसका मुक्ति में नाश हो, उसके ऐसे गुणों से रहित होने से मुक्ति में न कोई गुण उपजता है और न क्षीण होता है, आत्मा के उपजन और अपाय धर्म से रहित होने के कारण ॥ ७५ ॥

और—

न विशेषगतिर्निष्क्रियस्य ॥ ७६ ॥

(विशेषगतिः—न निष्क्रियस्य) संसार से ऊंची कोई विशिष्ट गति= मुक्ति नहीं, उसके निष्क्रिय होने से। मुक्ति आत्मा का कैवल्य=केवलस्वरूप में आना है। और गति लिंगशरीर आदि को अपेक्षित करके होती है, तब वह स्थिति कैवल्यस्थिति या मुक्ति नहीं है ॥ ७६ ॥

और फिर—

नाकारोपरागोच्छित्तिः क्षणिकत्वादिदोषात् ॥ ७७ ॥

(आकारोपरागोच्छित्तिः—न) विषयाकार के उपराग से क्षणिक विज्ञानरूप आत्मा में बन्ध होता है, उस विषयोपराग का उच्छेद मुक्ति हो सो यह भी नहीं (क्षणिकत्वादिदोषात्) मुक्ति की क्षणिकता हो जावे तथा उपाय में अपुरुषार्थता हो जावे। दूसरे क्षण में बन्धनिवृत्ति प्रसंग आजाने से ॥ ७७ ॥

तथा—

न सर्वोच्छित्तिरपुरुषार्थत्वादिदोषात् ॥ ७८ ॥

(सर्वोच्छित्तिः—न) सब विज्ञानस्वरूप आत्माओं का उच्छेद=मुक्ति भी युक्त नहीं (अपुरुषार्थत्वादिदोषात्) आत्मानाश पुरुषार्थ नहीं है तथा निरवयव चेतन का नाशप्रसंगदोष आ जावे, चेतन निरवयव का नाश नहीं होना चाहिए ॥ ७८ ॥

एवं शून्यमपि ॥ ७९ ॥

(शून्यम्—अपि—एवम्) इसी प्रकार शून्य भी मुक्ति नहीं हो सकती, अपुरुषार्थत्व आदि दोष से। शून्यरूप मुक्ति के लिये पुरुषार्थ की निरर्थकता है तथा ज्ञाता आत्मा का शून्यता में नाशप्रसंग आ जावे जबकि उसके नाश का असम्भव है ॥ ७९ ॥

और—

संयोगाश्च वियोगान्ता इति देशादिलाभोऽपि ॥ ८० ॥

(देशादिलाभः—अपि) विशेष देश 'अंगना सुखभोग' आदि का

लाभ भी मुक्ति मानता ठीक नहीं (च) क्योंकि (संयोगाः—वियोगान्ताः—इति) बाह्यवस्तु-समागम अन्त में वियोग वाले हैं। कहा भी है—**''संयोगाश्च वियोगान्ता मरणान्तं च जीवितम्''** (वाल्मीकि० रा० अयो० १०५।१६)

पुनः—

न भागियोगो भागस्य ॥ ८१ ॥

(भागस्य भागियोगः—न) भाग का=अंश का=अंशरूप जीवात्मा का भागी=अंशी परमात्मा में योग=संयोग या लय मुक्ति भी कहना या मानना ठीक नहीं। क्योंकि संयोग-वियोगान्त होने तथा लय आत्मानाश होने से। और न अखण्ड परमात्मा का जीवात्मा वैसा भाग या अंश या खण्ड है जैसे खण्डवाली पृथिवी में खण्ड, पाषाण आदि संयुक्त हैं तथा विलीन होते हैं। जीवात्मा तो परमात्मा का एकदेशवर्ती होने से अंश है, उसमें उसका वैसा योग तो बद्ध का भी है ही॥ ८१ ॥

और भी—

नाणिमादियोगोऽप्यवश्यम्भावित्वात्तदुच्छित्तेरितरयोगवत्॥ ८२ ॥

(अणिमादियोगः—अपि न) अणिमा आदि की प्राप्ति भी मुक्ति नहीं ''अणिमा भवत्यणुः, लघिमा लघुर्भवति, महिमा महान् भवति, प्राप्तिः,.....प्राकाम्यमिच्छानभिघातः, वशित्वं भूतभौतिकेषु वशी भवति, ईशितृत्वम्, काम्यं यत्रकामावसायित्वम्'' (योग० ३।४५, व्यासः) अणु—छोटा होना अणिमा है, लघु—हलका होना लघिमा है, महिमा—बड़ा होना महिमा है, प्राप्ति, इच्छा का अभिघात न होना प्राकाम्य है, भूतभौतिक वस्तुओं में वशी होना वशित्व है, ईशितृत्व, जहां चाहे विचरण काम्यसिद्धि है। ये सिद्धियां प्राप्त करना भी मुक्ति नहीं, क्योंकि (तदुच्छित्तेः) उनके क्षय के (अवश्यम्भावित्वात्) अवश्यम्भावी होने से (इतरयोगवत्) अन्य योग का वियोग जैसे अवश्यम्भावी होता है। वैसे ही अणिमा आदि योग का भी वियोग होना अवश्यम्भावी है॥८२॥

इसी प्रकार—

नेन्द्रादिपदयोगोऽपि तद्वत्॥ ८३ ॥

(इन्द्रादिपदयोगः—अपि न तद्वत्) इन्द्र, बृहस्पति आदि पदप्राप्ति भी मुक्ति नहीं, उस ही हेतु से=योग के वियोगधर्मी होने से, प्राप्ति के भी क्षय होजाने से॥ ८३ ॥

इन्द्र तो जिसकी इन्द्रियां=लिङ्ग हैं वह है। अहम्=अहङ्कार रूप **''इन्द्रियमिन्द्रलिङ्ग.....''**(अष्टा० ५।२।९३) अतएव—

न भूतप्रकृतित्वमिन्द्रियाणामाहङ्कारिकत्वश्रुतेः ॥ ८४ ॥

(इन्द्रियाणां भूतप्रकृतित्वं न) इन्द्रियां भूतप्रकृतिवाली=पृथिवी आदि भूतों से उत्पन्न हुईं नहीं हैं। उनके (आहङ्कारिकत्वश्रुतेः) इन्द्रियों का आहङ्कारिकत्व=अहङ्कार से उत्पत्ति सम्बन्धी श्रुति होने से, स्थूल भूतों से नहीं—**''एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी''** (मुण्ड० २।१।३)। यहां इन्द्रियों के पीछे स्थूलभूतों की उत्पत्ति कही है और इन्द्रियों की उत्पत्ति तो उन भूतों से पूर्व है। अतः इन्द्रियां स्थूलभूतों से उत्पन्न नहीं हुईं, यही मानकर यहां सांख्यदर्शन में **''सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्चतमात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि.....''** (सांख्य० १।६१) यहां अहङ्कार से पञ्चतन्मात्राएं और दोनों इन्द्रियगण की उत्पत्ति दर्शाई है। सांख्यमत में पञ्चतन्मात्राओं के पीछे इन्द्रियों का निर्देश होने से इन्द्रियां पञ्चतन्मात्राओं के पश्चात् उत्पन्न हुई यह मान सकते हैं। श्रुति में तन्मात्राओं का निर्देश नहीं है, पञ्च भूतों की उत्पत्ति दिखलाई है। उनसे पूर्व इन्द्रियों की इस प्रकार स्थूलभूतों से इन्द्रियों की उत्पत्ति-कल्पना तो दोनों स्थानों में श्रुति और सूत्र में संगत नहीं है॥ ८४॥

और उसी मुक्ति विषय में—

न षट्पदार्थनियमस्तद्बोधान्मुक्तिः ॥ ८५ ॥

(षट्पदार्थनियमः—न) मुक्तिविषय में षट्पदार्थों का नियम नहीं है। कि (तद्बोधात्—मुक्तिः) उन षट्पदार्थों के बोध से ही मुक्ति होती है। हो षट्पदार्थों के भी बोध की आवश्यकता मुक्ति में, परन्तु प्रकृति-पुरुष के विवेक की अनिवार्यता है। षट्पदार्थबोध का नियम नहीं मुक्ति में। यहां नियम शब्द उस पक्ष के सर्वथा निराकरणार्थ नहीं किन्तु प्रतिबन्ध के अभावप्रदर्शनार्थ है, हो वह भी पक्ष। जैसे अन्यत्र **''न स्थूलमिति नियम आतिवाहिकस्यापि विद्यमानत्वात्''** (सांख्य० ५।१०३)। हो स्थूल शरीर भी परन्तु सूक्ष्म शरीर भी तो अनिवार्य है। और भी **''न बाह्यबुद्धिनियमो वृक्षगुल्मलतौषधिवनस्पतिवीरुधादीनामपि भोक्तृ-भोगायतनत्वं पूर्ववत्''** (सांख्य० ५।१२१)=भोग भोगने में बाह्यबुद्धि का नियम नहीं है। वृक्ष, गुल्म, लता, ओषधि, वनस्पति, वीरुध आदि

भी भोक्ता के भोग का आयतन हैं। हो बाह्य बुद्धि से भी भोग किन्तु वहां आन्तरिक बुद्धि से भी भोग अनिवार्य है॥ ८५॥

तथा—

षोडशादिष्वप्येवम्॥ ८६॥

(षोडशादिषु—अपि—एवम्) सोलह पदार्थों आदि में इसी प्रकार मानना चाहिए कि सोलह पदार्थबोध आदि से ही मुक्ति होती है। हो उनके बोध से भी मुक्ति, परन्तु नियम नहीं, प्रतिबन्ध नहीं, प्रकृति-पुरुष का विवेक तो मुक्ति में अनिवार्य है॥ ८६॥

मुक्ति में प्रकृति-पुरुष का विवेक तो अनिवार्यत्व से अपेक्षित है वे ही नित्य हैं। पुरुष चेतन, प्रकृति जड़ है, प्रकृति जगत् का उपादान कारण है। अतः इन दोनों के विवेक की आवश्यकता है। अतः अन्य कार्यरूप वस्तु के बोध में नियम मुक्ति के लिये नहीं है। इसी प्रकार अणुओं=तन्मात्राओं के बोध का भी नियम मुक्ति में नहीं है, क्योंकि—

नाणुनित्यता तत्कार्यत्वश्रुतेः॥ ८७॥

(अणुनित्यता न) अणु शब्द यहां पृथिवीतन्मात्र, जलतन्मात्र आदि परक है—"पार्थिवस्याणोर्गन्धमात्रं सूक्ष्मो विषयः, आप्यस्य रसतन्मात्रं तैजसस्य रूपतन्मात्रं वायव्यस्य स्पर्शतन्मात्रमाकाशस्य शब्दतन्मात्रम्" (योग० १। ४५, व्यासः) पार्थिव अणु की गन्धतन्मात्रा सूक्ष्म विषय है एवं जल के अणु की रस तन्मात्रा, अग्नि के अणु की रूपतन्मात्रा, वायु के अणु की स्पर्शतन्मात्रा, आकाश के अणु की शब्दतन्मात्रा। अणुओं=तन्मात्राओं की नित्यता नहीं (कार्यत्वश्रुतेः) उन अणुओं=तन्मात्राओं की कार्यता-विषयक श्रुति है—"**इन्द्रो महना रोदसी पप्रथच्छ्व इन्द्रः सूर्यमरोचयत्। इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे सुवानास इन्द्रवः॥**" (अथर्व० २०। ११६। ४) यहां 'सुवानास इन्द्रवः' उत्पन्न होते हुए अणु कहा है। तथा "**अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्द्धानां च याः स्मृताः। ताभिः सार्द्धमिदं सर्वं सम्भवत्यनुपूर्वशः॥**" (मनु० १। २७)=अणु-मात्राएं विनाशिनी पञ्चतन्मात्राएं जो कही हैं उनके साथ वह सब जगत् अनुक्रम से उत्पन्न होता है॥ ८७॥

अतएव—

न तन्निर्भागत्वं कार्यत्वात्॥ ८८॥

(तन्निर्भागत्वं कार्यत्वात्—न) उन अणुओं=तन्मात्राओं का

भागरहितता मूलता=जगत् की मूलकारणता नहीं है, उनके स्वयं कार्य होने से। अतः प्रकृति की भांति उनके बोध की मुक्ति में मुख्यता नहीं जाननी चाहिए॥ ८८॥

अच्छा, हो सांख्यमत में प्रकृति पुरुषसाक्षात्कार मोक्ष का हेतु, परन्तु प्रकृति-पुरुष तो रूपवाले नहीं हैं, पुनः उनका प्रत्यक्षत्व कैसे है ? इस पर कहते हैं—

न रूपनिबन्धनात् प्रत्यक्षत्वनियमः॥ ८९॥

(रूपनिबन्धात् प्रत्यक्षत्वनियमः—न) रूपनिमित्त से प्रत्यक्षत्व का नियम नहीं है, कि रूपवाली वस्तु ही प्रत्यक्ष होती है रूपरहित नहीं, यह प्रतिबन्ध नहीं सांख्यप्रत्यक्ष में। हो रूपवाली वस्तु भी प्रत्यक्ष, किन्तु रूपरहित भी प्रत्यक्ष होती है, उसके सांख्योक्त प्रत्यक्ष लक्षण के अन्तर्गत होने से। सांख्य प्रत्यक्ष में इन्द्रियार्थ सम्बन्धजनित ज्ञान ही प्रत्यक्ष नहीं किन्तु "**यत्सम्बन्धसिद्धं तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्**" (सांख्य० १। ८९) यहां केवल इन्द्रिय द्वारा सम्बन्ध से सिद्ध ही नहीं किन्तु यत्सम्बन्धसिद्ध प्रत्यक्ष कहा है। वह इन्द्रियों से मन से या स्वात्मा से भी सम्बन्धसिद्ध हो, इसी कारण "**योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः**" (सांख्य० १। ९०) "**लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद् वाऽदोषः**" (सांख्य० १।९१) इन दो सूत्रों से उस प्रत्यक्ष का विस्तृत रूप दिखलाया। उस से ईश्वर का प्रत्यक्षत्व और सूक्ष्मवस्तु का प्रत्यक्षत्व भी होता है, उनके प्रत्यक्ष से मोक्षलाभ युक्त है। इसी प्रकार अणुओं=तन्मात्राओं का कार्य होना भी प्रत्यक्ष होता है॥ ८९॥

कार्यों के स्थूल भाव से दो प्रकार होने के कारण उनके परिमाण के भी दो भेद उनके बोधार्थ सांख्य में पर्याप्त हैं, यह कहते हैं—

न परिमाणचातुर्विध्यं द्वाभ्यां तद्योगात्॥ ९०॥

(परिमाणचातुर्विध्यं न) सांख्यमत में कार्यमात्र का चतुर्विध परिमाण अणु, मध्य, ह्रस्व, दीर्घ होना स्वीकार अथवा अपेक्षित नहीं (द्वाभ्यां तद्योगात्) क्योंकि अणु-महत् परिमाणों से उन सूक्ष्म, स्थूल—सामान्य विशेष *कार्यों का योग=युक्तत्व=सम्भव=पर्याप्तत्व है॥ ९०॥

---

* "विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि" (योग० २। १९) आकाश-वाय्वग्न्युदकभूमयो भूतानि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्राणाम-विशेषाणां विशेषाः। इति व्यासः।

सामान्य विशेष सूक्ष्म—स्थूल कार्यों में विशेष स्थूल कार्य की तो स्वतः उपलब्धि होती है ही सामान्य—सूक्ष्म कार्य की कैसे हो, यह कहते हैं—

अनित्यत्वेऽपि स्थिरतायोगात् प्रत्यभिज्ञानं सामान्यस्य ॥ ९१ ॥

(सामान्यस्य—अनित्यत्वे—अपि) सामान्य तन्मात्र=सूक्ष्मभूतगण यद्यपि है=कार्य है तथापि (स्थिरतायोगात्) विशेष—पृथिवी आदि कार्यों में सामान्यतन्मात्र=सूक्ष्मभूतगण का स्थिरतायोग=वर्तमानता सम्बन्ध है, उनमें स्थिरभाव से है। अतः (प्रत्यभिज्ञानम्) विशेष=स्थूल कार्य को देखकर उस सामान्य—कारण, सामान्य—सूक्ष्मभूत का प्रत्यभिज्ञान=स्मृति से ज्ञान तो होता है ॥ ९१ ॥

न तदपलापस्तस्मात् ॥ ९२ ॥

(तस्मात् तदपलापः—न) अतः उस सामान्य=तन्मात्र=सूक्ष्मभूत का विशेषों पृथिवी आदि कार्यों में वर्तमान होने का अन्यथा कथन नहीं हो सकता ॥ ९२ ॥

और भी—

नान्यनिवृत्तिरूपत्वं भावप्रतीतेः ॥९३ ॥

(अन्यनिवृत्तिरूपत्वं न) विशेषकार्य पृथिवी आदि से अन्य जो निवृत्तिरूप=अभावरूप ही वह सामान्य समझा जावे, सो ऐसा नहीं। क्योंकि (भावप्रतीतेः) उस सामान्य के भावात्मक सत्तारूप से विद्यमान होने से, स्थूल का सूक्ष्मीभूत सामान्य होता हुआ भावरूप से सत्ता रूप से रहता है, उसके अणुपरिमाण वाला होने से ॥ ९३ ॥

जो तो विशेषों—पृथिवी आदि स्थूल कार्यों में परस्पर सामान्याभास रूपसामान्य सादृश्य है, वह—

न तत्त्वान्तरं सादृश्यं प्रत्यक्षोपलब्धेः ॥ ९४ ॥

निजशक्त्यभिव्यक्तिर्वा वैशिष्ट्यात् तदुपलब्धेः ॥ ९५ ॥

(सादृश्यं तत्त्वान्तरं न प्रत्यक्षोपलब्धेः) विशेषों=पृथिवी आदि तथा पार्थिव आदि कार्यों में जो सामान्याभास=सादृश्य है वह सांख्यमत में तत्त्वान्तर=भिन्न वस्तुरूप नहीं है, सामान्य नाम से भिन्नवस्तु नहीं मानी जाती। क्योंकि प्रत्यक्ष उपलब्धि से विशेष=पृथिवी आदि तथा पार्थिव आदि कार्य की प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है, उस जैसी वा उस से भिन्न अन्य सत्ता नहीं। एक विशेष=पृथिवी आदि तथा पार्थिव आदि कार्य के

सदृश अन्य विशेष पृथिवी आदि तथा पार्थिव आदि कार्यरूप सामान्य को प्राप्त हुआ प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है कोई उनसे भिन्न सत्ता नहीं। जैसे वह स्थूल कठोर जड़ और रूप आदि वाला है वैसे दूसरा भी विशेष उन्हीं धर्मों वाला है एवं विशेष पदार्थ से भिन्न उनमें सत्ता नहीं। अथवा विशेष कार्यों=पृथिवी आदि में जो सामान्याभास रूपसामान्य सादृश्य है वह (निजशक्त्यभिव्यक्तिः) उस-उस विशेष पृथिवी आदि तथा पार्थिव आदि कार्य की निजशक्ति की अभिव्यक्ति ही है। वह उनके स्वरूपों में सादृश्यरूप से वर्तमान है (वैशिष्ट्यात् तदुपलब्धेः) विशिष्ट-विशिष्ट कार्य के प्रति उस अभिव्यक्ति की उपलब्धि होती है। अतः विशेष=पृथिवी आदि तथा पार्थिव आदि कार्य की निज शक्ति की अभिव्यक्ति ही सादृश्य है, भिन्न वस्तु नहीं॥ ९४-९५॥

सामान्य विचार समाप्त हुआ। अब सम्बन्धित विषय में विचार प्रवृत्त होता है। उसमें प्रथम संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध विषय में—

न संज्ञासंज्ञिसम्बन्धोऽपि॥९६॥

(संज्ञासंज्ञिसम्बन्धः—अपि न)'तत्त्वान्तरम्' का अनुवर्तन है। संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध भी तत्त्वान्तर नहीं=भिन्न वस्तु नहीं। संज्ञावाचक ध्वन्यात्मक रूप से संज्ञी वाच्य वस्त्वात्मकरूप से होता है। उन वाच्य-वाचक से भिन्न प्राप्त सत्तावाला संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध नहीं है किन्तु उन्हीं दोनों संज्ञा और संज्ञी के अन्दर वर्तमान अर्थशक्ति ही सम्बन्ध है, उन से पृथक् स्वरूपवाला नहीं॥ ९६॥

न सम्बन्धनित्यतोभयानित्यत्वात्॥ ९७॥

(सम्बन्धनित्यता न-उभयानित्यत्वात्) ऐसे वाच्य-वाचक के मध्य वर्तमान सम्बन्ध की भी नित्यता नहीं है, उन वाच्य-वाचक के अनित्य होने से, क्योंकि वाच्य-वाचक नित्य नहीं हैं। विशेष कार्यरूप वाच्य का नित्यत्व नहीं, तब उसके वाचक का भी नित्यत्व नहीं। पुनः उन दोनों के अन्दर वर्तमान सम्बन्ध की भी नित्यता नहीं॥ ९७॥

और नैसर्गिक सम्बन्ध विषय में—

नाजः सम्बन्धो धर्मिग्राहकप्रमाणबाधात्॥ ९८॥

(आजः सम्बन्धः—न) अज वस्तुओं प्रकृति-पुरुष में वर्तमान सम्बन्ध नैसर्गिक=स्वाभाविक सम्बन्ध सांख्य सिद्धान्त में स्वीकार नहीं किया जाता। क्योंकि (धर्मिग्राहकप्रमाणबाधात्) धर्म=सम्बन्ध, सम्बन्ध

धर्म जिसका हो वह धर्मी सम्बन्धधर्मी, उन दोनों अज-धर्मियों प्रकृतिपुरुषधर्मियों धर्मिरूप साधक प्रमाण के बाध से धर्मग्राहक प्रमाण बाधित होता है, कट जाता है। अचेतन है वह, पुरुष के साथ सम्बन्ध स्थापन के लिये स्वतन्त्र समर्थ नहीं, उसके जड़ होने—अचेतन होने से। और पुरुष शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, नित्य, स्वभाव वाला है। वह प्रकृति के साथ सम्बन्ध स्थापन में अभिलाष नहीं रखता, उसके शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, नित्य, स्वभाव वाला होने से। पुरुष जीवात्मा स्वभावतः बद्ध नहीं घटता, इस प्रकार सम्बन्ध-धर्मी न पुरुष और न सम्बन्ध-धर्मिणी प्रकृति है। उनके सम्बन्ध धर्मीभाव से प्रमाण प्रवृत्त नहीं होता किन्तु बाधित होता है, अतः नैसर्गिक सम्बन्ध या स्वाभाविक सम्बन्ध भी सांख्य सिद्धान्त में नहीं माना जाता।

विज्ञानभिक्षुभाष्य में 'नाजः' इसके स्थान में 'नातः' पाठ कल्पित किया है, वह ठीक नहीं। सम्बन्ध विचार का प्रसङ्ग है। उसमें संज्ञासंज्ञी सम्बन्ध पूर्व गया, आगे समवाय सम्बन्ध विचारप्रवृत्त होने वाला है। यहां आज सम्बन्ध=नैसर्गिक सम्बन्ध=नित्य सम्बन्ध विचारने योग्य है ॥९८॥

और समवाय—सम्बन्ध में—

न समवायोऽस्ति प्रमाणाभावात् ॥ ९९ ॥

(समवायः—न—अस्ति) सांख्यसिद्धान्त में समवाय सम्बन्ध तत्त्वान्तर=भिन्न वस्तुरूप नहीं माना जाता है (प्रमाणाभावात्) उसके साधक प्रमाण का अभाव है ॥ ९९ ॥

कैसे प्रमाणाभाव है यह कहते हैं—

उभयत्राप्यन्यथासिद्धेर्न प्रत्यक्षमनुमानं वा ॥ १०० ॥

(अभयत्र—अपि) कार्य—कारण में भी सांख्य सिद्धान्त में सत्कार्य वाद में कारण का कार्याभिव्यक्ति धर्मवाला होने से कारणत्व है और कार्य का कारणानुवर्ती धर्मवाला होने से कार्यत्व है (अन्यथासिद्धेः) बिना प्रमाण के सिद्ध होने से=स्वतःसिद्ध होने से (प्रत्यक्षम्—अनुमानं वा न) उस में प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण उन दोनों कार्य-कारण से भिन्न समवाय को भिन्न वस्तु साधनेवाला नहीं है। कार्य में कारण प्रत्यक्ष है, कारण से कार्य का अनुमान होता है परन्तु प्रत्यक्ष अनुमान से दोनों कार्य-कारण में समवाय उन कार्य कारण से भिन्न तत्त्वान्तर भिन्न वस्तु सांख्य सिद्धान्त में अपेक्षित नहीं, मानी नहीं जाती, सिद्ध नहीं होती ॥ १०० ॥

कारण का कारणपन और कार्य का कार्यपन ही स्वरूप से, उन कार्य कारण से भिन्न वस्तु समवाय सम्बन्ध न हो परन्तु कारण से कार्य की अभिव्यक्ति क्रिया से होती है। क्या वह क्रिया अनुमानगम्या माननी चाहिए जैसे बीज से अंकुर की उत्पादनक्रिया अनुमेया है, इस आकांक्षा पर कहते हैं—

नानुमेयत्वमेव क्रियाया नेदिष्ठस्य तत्तद्वतोरेवा-
परोक्षप्रतीतेः ॥ १०१ ॥

(क्रियायाः—अनुमेयत्वम्—एव—न) क्रिया का अनुमेयत्व ही न मानना चाहिए किन्तु प्रत्यक्षत्व भी है, क्योंकि (नेदिष्ठस्य तत्तद्वतोः-एव-अपरोक्षप्रतीतेः) निकटस्थ जन के क्रिया और क्रियावाले पदार्थ के ज्ञान से। जो देश-काल की दृष्टि से निकटस्थ होता है वह क्रिया को क्रिया वाले पदार्थ में प्रत्यक्ष भी देखता है, जाते मनुष्य में गमन-क्रिया को, पकते हुए चावल में पचन-क्रिया को, मिट्टी से बनते हुए घड़े में निर्माण-क्रिया को साक्षात् देखता है ही। देश-काल के व्यवधान से क्रिया अनुमेया होती है ॥ १०१ ॥

यदि क्रिया अनुमेया है तो कार्य से कारण का भी अनुमान होता है, जैसे—

न पाञ्चभौतिकं शरीरं बहूनामुपादानयोगात् ॥ १०२ ॥

(शरीरं पाञ्चभौतिकं न) शरीर पाञ्चभौतिक नहीं है, पञ्चभूतों से उत्पन्न नहीं हुआ। क्योंकि (बहूनाम्—उपादानयोगात्) बहुत भूतों की एक कार्य में=कार्याभिव्यक्ति में उपादान योग=उपादानयुक्तता=परिणाम होने की युक्तता नहीं है।

यहां वक्तव्य—तृतीय अध्याय में "**पाञ्चभौतिको देहः [१७], चातुर्भौतिकमित्येके [१८], ऐकभौतिकमित्यपरे [१९]**" इन तीनों सूत्रों में शरीर के कारणविचार में चातुर्भौतिक के साथ 'एके' ऐकभौतिक के साथ 'अपरे' शब्दों द्वारा भिन्न मत का प्रकाशन किया है किन्तु "**पाञ्चभौतिको देहः**" [१७] इस सूत्र में अन्यमत प्रकाशन सङ्केत नहीं है। इस से तो पाञ्चभौतिक शरीर यह सांख्य मत अनायास कल्पित किया जा सकता है, परन्तु "**न पाञ्चभौतिकं शरीरं बहूनामुपादानयोगात्**" इस प्रस्तुत सूत्र में शरीर का पाञ्चभौतिकत्व खण्डित किया जा रहा है, फिर सांख्यमत शरीर के उपादान में क्या है ? यह प्रश्न मत उपस्थित है। चातुर्भौतिकत्व और ऐकभौतिकत्व तो सांख्यमत कल्पित नहीं कर सकते,

'एके' 'अपरे' शब्दों से भिन्न मत प्रदर्शन करने से। शरीर अनेक भूतों से निष्पन्न हुआ यह सांख्यमत तो ध्वनित होता है—"**न सांसिद्धिकं चैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः**" (सांख्य ३।२०) इस सूत्र में प्रत्येक शब्द आ जाने से वहां शरीर अनेकभौतिक है, यह स्पष्ट है।

विज्ञानभिक्षुभाष्य में भी "भूतेषु पृथक्-पृथक् कृतेषु चैतन्यादर्शनाद् भौतिकस्य देहस्य न स्वाभाविकं चैतन्यम्"। भूतों में पृथक्-पृथक् किए हुओं में चैतन्य न दीखने से भौतिक देह का स्वाभाविक चैतन्य नहीं है और यहां कहा गया है शरीर पाञ्चभौतिक नहीं। दोनों प्रकरणों के आलोचन से शरीर के कारणविषय में सांख्य मत यह है कि शरीर निष्पन्न=तैयार तो हुआ पञ्चभूतों से "पाञ्चभौतिको देहः" इस कथन से, परन्तु उन पञ्चभूतों में उपादानता=परिणम्यमानता=कार्यपरिणाम हो जाना पञ्चभूतों की नहीं "बहूनामुपादानत्वायोगात्" बहुतों का उपादान होना युक्त नहीं होने से। तब एक भूत की उपादानता परिणम्यमानता होती है, शरीररूप कार्य में किस एक की? इस प्रश्न के होने पर तो पृथिवी की ही उपादानता है, अन्य भूतों की तो उपष्टम्भकता=सहकारिता अनिवार्य है, यह सांख्यमत है। जैसे इससे आगे कहा ही है—"**सर्वेषु पृथिव्युपादानमसाधारण्यात् तद्व्यपदेशः पूर्ववत्**" [११२]=पृथिवी ही असाधारणकारण=विशेषकरण=प्रधानकारण=उपादानकारण है, अन्य भूत तो साधारण कारण=गौण कारण=सहकारी कारण हैं, यह स्पष्ट हुआ। जैसे घड़े का उपादान कारण मिट्टी है, उस में पिण्डीकरण में जल, पकने में अग्नि, गतिव्यवहार में वायु, अवकाशप्रदान में आकाश सहकारी कारण हैं। आहार नियम से भी ऐसा ही प्रतीत होता है। शरीर के स्थूलपने में स्थिरता और वृद्धि में पार्थिव आहार ही प्रधानरूप से चाहिए। जल, अग्नि, वायु, आकाश का सम्पर्क भी सूक्ष्मभाव से निमित्त होता है॥ १०२॥

बाह्य स्थूल शरीर के अन्दर सूक्ष्म शरीर भी है, यह कहते हैं—

न स्थूलमिति नियम आतिवाहिकस्यापि विद्यमानत्वात्॥ १०३॥

(स्थूलम्—इति नियमः—न) स्थूल शरीर ही है, यह नियम नहीं=यह सिद्धान्त नहीं, क्योंकि (आतिवाहिकस्य—अपि विद्यमानत्वात्) अतिवाह में=एक देह से दूसरी देह प्राप्ति में निमित्त जो है वह 'आतिवाहिक सूक्ष्म शरीर' उसकी भी विद्यमानता है, निराश्रय जीवात्मा एक देह से दूसरे देह में जाने को समर्थ नहीं। कहा है लिङ्ग—शरीर—"**तदेव सक्तः**

सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य'' (बृह० ४।४।३) ॥ १०३ ॥

शरीर में ही इन्द्रियां हैं, वे प्राप्त स्व-स्व विषय का प्रकाश करती हैं या अप्राप्त का प्रकाश करती हैं। दीखता तो दोनों प्रकार से प्राप्त का प्रकाश करना और अप्राप्त का प्रकाश करना भी है, जैसे कान प्राप्त=समीपस्थ शब्द का भी प्रकाश करता है, दूरस्थ का भी प्रकाश करता है, तथा आंख प्राप्त समीपस्थ रूप का भी प्रकाश करती है, दूरस्थ आकाशीय नक्षत्र तारे का भी प्रकाश करती है, इस में सिद्धान्त क्या है ? इस पर कहते हैं—

नाप्राप्तप्रकाशकत्वमिन्द्रियाणामप्राप्तेः सर्वप्राप्तेर्वा ॥१०४॥

(इन्द्रियाणाम्—अप्राप्तप्रकाशकत्वं न) इन्द्रियां अप्राप्त का प्रकाश नहीं करती हैं, जो अप्राप्त दूरस्थ शब्द या रूप को प्रकाशित करती हैं वह ऐसा नहीं, किन्तु वह भी प्राप्त ही विषयमात्र को प्रकाशित करती हैं, यह निश्चय है। इन्द्रियों के अतीन्द्रिय होने से वह पूर्व कह दिया है—''**अतीन्द्रियमिन्द्रियं.....**'' (सांख्य० २।२३) शरीर से संसक्त गोलक-इन्द्रियां नहीं हैं, अतः प्राप्त ही विषय को प्रकाशित करती हैं इन्द्रियां, उनके शक्तिरूप होने से, (अप्राप्तेः सर्वाप्राप्तेः—वा) यदि प्राप्त को न प्रकाशित करें इन्द्रियां तो किसी देश या काल में प्राप्त शब्द रूप आदि की उस देश या काल में अप्राप्ति हो। होती है प्राप्त की प्राप्ति। अथवा सर्वप्राप्ति ही सब देश और काल में सब विषयों की प्राप्ति हुआ करे, वैसा होता नहीं। अतः इन्द्रियां प्राप्त को प्रकाशित करती हैं ॥ १०४ ॥

अच्छा, इन्द्रियां प्राप्त को प्रकाशित करती हैं तो आंख तो तैजस होगी, जो दूरस्थ नक्षत्रादिक के प्रति सर्पित होती है उसे प्राप्त करने को, क्योंकि तैजस ही पदार्थ किरणरूप से दूर उपसर्पित होता है। फिर इन्द्रियों का आहङ्कारिकत्व=अहङ्कार से उत्पन्न हुई यह कथन कैसे ? इस पर कहते हैं—

न तेजोऽपसर्पणात् तैजसं चक्षुर्वृत्तितस्तत्सिद्धेः ॥ १०५ ॥

(तेजोऽपसर्पणात्) तेजस् का अपसर्पण, तेजोऽपसर्पण। तेजो-विषयक=आग्नेय पदार्थ का अपसर्पण होता है। अपसर्पण तेज का धर्म है, इस कारण (तैजसं चक्षुः—न) आँख तैजस=आग्नेय नहीं मानना चाहिए, क्योंकि (वृत्तितः—तत्सिद्धेः) आंख की वृत्ति के द्वारा दूरस्थ विषय के प्रति अपसर्पण होता है। इन्द्रियों की वृत्तियां होती हैं जिनके द्वारा इन्द्रियां दूरस्थ विषय को प्राप्त करती हैं=उसके समीप सर्पित होती

हैं। मन भी तो अतैजस होता हुआ दूर अपसर्पित होता है वृत्तिद्वारा, सांख्य सिद्धान्त में मन के समान इन्द्रियों की भी वृत्तियां स्वीकार की जाती हैं। जैसे मन की वृत्तियां हैं, वैसे ही इन्द्रियों की भी वृत्तियां होती हैं, यह कहा गया है। "**क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रिय-वृत्तिः**" (सांख्य २।३२) ॥ १०५ ॥

इन्द्रियों की वृत्तियों से विषयप्राप्ति कही है, वृत्तिसिद्धि कैसे हो यह कहते हैं—

प्राप्तार्थप्रकाशलिङ्गाद् वृत्तिसिद्धिः ॥ १०६ ॥

(प्राप्तार्थप्रकाशलिङ्गात्—वृत्तिसिद्धिः) प्राप्त अर्थ को प्रकाशित करती हैं=जानती हैं, यह लिङ्ग=अनुमान वृत्ति की सिद्धि में है, यन्त्र के तार की भांति ॥ १०६ ॥

अब वह किस स्वरूपवाली है, यह कहते हैं—

भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिः सम्बन्धार्थं सर्पतीति ॥ १०७ ॥

(भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिः) वह इन्द्रियवृत्ति, इन्द्रिय का न भाग=अंश है और न गुण है रूप आदि के समान, किन्तु भाग और गुणों से भिन्न वस्तु है। क्योंकि (सम्बन्धार्थं सर्पति इति) दूरस्थ विषय के प्रति भी सम्बन्धार्थ सर्पित होती है इसलिये। इन्द्रिय को छोड़कर उस का भाग या गुण दूर सर्पित नहीं हो सकता उस में ही रहने के कारण, वृत्ति तो विद्युत्—तरङ्ग की भांति दूर भी सर्पित होती है ॥ १०७ ॥

अच्छा, वृत्ति इन्द्रियों का भाग और गुण से भिन्न वस्तु है तो फिर वह विशिष्ट क्रिया होगी। पुनः क्रिया द्रव्याश्रित=द्रव्य में रहती है, उस से बाहिर गमनशील नहीं होती, इस विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हैं—

न द्रव्ये नियमस्तद्योगात् ॥ १०८ ॥

(द्रव्ये नियमः—न) द्रव्य में ही क्रिया रहे यह नियम नहीं है। द्रव्य में भी क्रिया रहती है किन्तु (तद्योगात्) द्रव्य के योग से द्रव्य से बाहिर भी दूर क्रिया अपसर्पित होती है। जैसे सूर्य की तापक्रिया सूर्य में भी स्थित हुई दूर, दूरतर, दूरतम अपसर्पित होती है, वैसे ही इन्द्रियों की वृत्तिरूप विशिष्ट क्रिया दूर अपसर्पित होती है।

अन्य व्याख्यामार्ग—(द्रव्ये नियमः—न) क्रिया का द्रव्य में नियम नहीं है, हो द्रव्य में क्रिया परन्तु जहां द्रव्यत्व है वहां ही क्रिया यह नियम नहीं, किन्तु (तद्योगात्) क्रिया के योग से द्रव्यत्व होता है इस से क्रिया

द्रव्य से पृथक् भी व्यापार करती है। उदाहरण पूर्व की भांति जानें अथवा जैसे अग्नि से धूमगति पृथक् भी होती है।

अथवा—

द्रव्य में ही क्रिया होती है उस वृत्ति में कैसे अपसर्पण क्रिया होती है इस पर कहते हैं—(द्रव्ये नियमः—न) द्रव्य में क्रिया का नियम नहीं है, हो द्रव्य में भी क्रिया। परन्तु (तद्योगात्) क्रिया के योग से वृत्ति में विद्युत्तरङ्ग की भांति अपसर्पण है, यह निश्चय है। जिससे दूरस्थ विषय को इन्द्रिय प्राप्त करती है अपनी क्रियावाली वृत्ति से, अतः दोष नहीं॥ १०८॥

ऐसी वृत्तिवाली इन्द्रियों का—

न देशभेदेऽप्यन्योपादानताऽस्मदादिवन्नियमः॥ १०९॥

(देशभेदे—अपि) शरीरभेद होने पर भी=मनुष्य से भिन्न शरीर में भी (अन्योपादानता न) वृत्तिवाली इन्द्रियों का अहङ्कार से अतिरिक्त भूत उपादान नहीं है किन्तु (अस्मदादिवत्—नियमः) हमारी इन्द्रियों का जैसे अहङ्कार उपादान है वैसे ही उन में भी इन्द्रियों का उपादान अहङ्कार होने का नियम है॥ १०९॥

किन्तु—

निमित्तव्यपदेशात् तद्व्यपदेशः॥ ११०॥

(निमित्तव्यपदेशात्) इन्द्रियों के उपष्टम्भकत्व निमित्त भूत हैं, उस ऐसे निमित्तव्यपदेश से (तद्व्यपदेशः) भूत-व्यपदेश हो। भौतिक इन्द्रियां हैं, जैसे अन्य दर्शन में—"**घ्राणरसनचक्षुस्त्वक् श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः**" (न्याय० १।१।१२)। निमित्त से भी व्यपदेश होता है जैसा कि "**अन्नमयं हि सोम्य मनः**" (छान्दो० ६।५।४)=मन अन्नमय है। अथवा जैसे—"**यज्ञाद् भवति पर्जन्यः**" (गीता० ३।१४)=यज्ञ से मेघ बनता है॥ ११०॥

इन्द्रियों का अहङ्कार से उत्पन्न होना मनुष्य शरीर से भिन्न शरीर में भी कहा गया, अब वह शरीरभेद प्रदर्शित किया जाता है—

ऊष्मजाण्डजजरायुजोद्भिज्जं साङ्कल्पिकसांसिद्धिकंचेति न नियमः॥ १११॥

(ऊष्मजाण्डजजरायुजोद्भिज्जम्) ऊष्मज=स्वेदज डांस, पिस्सु खटमल, जूं, लिक्षा, मच्छर आदि, अण्डज=अण्डे से उत्पन्न पक्षी, सर्प

आदि, जरायुज=गर्भथैली से उत्पन्न मनुष्य आदि शरीर, उद्भिज्ज=भूमि को फोड़कर उगनेवाले वृक्ष आदि (साङ्कल्पिकसांसिद्धिकं च) 'च' यहां 'अपि' के अर्थ में है। साङ्कल्पिक प्रारम्भ सृष्टि में आर्ष शरीर अग्नि आदि वेदप्रकाशक परम ऋर्षियों का शरीर, सांसिद्धिक=स्वतः सिद्ध नैसर्गिक आदि सृष्टि में अमैथुन शरीर भी। साङ्कल्पिक और सांसिद्धिक दो भेदों से भी शरीर होता है यह आशय है। सांसिद्धिक=स्वतः सिद्ध नैसर्गिक है, जैसे—"**न सांसिद्धिकं चैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः**" (सांख्य० ३।२०) इस सूत्र में देह में चैतन्य सांसिद्धिक=नैसर्गिक=स्वाभाविक नहीं, यह कथन होने से सांसिद्धिक का अर्थ नैसर्गिक=स्वाभाविक है। परन्तु (इति नियमः—न) इस प्रकार छः प्रकार के शरीर का नियम नहीं कि सर्वदा सब स्थानों में छः प्रकार के शरीर हों। साङ्कल्पिक और सांसिद्धिक शरीर तो आरम्भ सृष्टि में ही होते हैं। चार प्रकार के शरीर का प्रवर्तन ही होता है, ऐसा ही प्रतिपादन अन्य शास्त्र में किया हुआ है, वह विरुद्ध नहीं॥ १११॥

उन में—

सर्वेषु पृथिव्युपादानमसाधारण्यात् तद्व्यपदेशः पूर्ववत्॥११२॥

(सर्वेषु पृथिवी—उपादानम्) सभी छः प्रकार के शरीरों में पृथिवी उपादान है (असाधारण्यात्) विशेषता से=अधिकता से स्थूलता में प्रधान होने से, अतएव सब शरीर पार्थिव हैं। और साधारणता से (तद्व्यपदेशः पूर्ववत्) पाञ्चभौतिक व्यपदेश "**पाञ्चभौतिको देहः**" (सांख्य० ३।१७) पूर्ववत्=पूर्वकथन के समान "**निमित्तव्यपदेशात् तद्व्यपदेशः**" (११०) इस पूर्वसूत्र में कहे प्रकार के समान पञ्चभूतनिमित्त होने से शरीर पाञ्चभौतिक है। पञ्चभूत उपष्टम्भक हैं, उन में उपादान तो पृथिवी ही है॥ ११२॥

इन्द्रियों की उत्पत्ति अहङ्कार से कही है और शरीर पार्थिव है उसका पृथिवी उपादान होने से तथा शरीर पाञ्चभौतिक निमित्त व्यपदेश से=पञ्चभूतनिमित्त होने से। अच्छा, प्राण का क्या स्वरूप है और इसका उत्पत्तिकरण कौन है? इसके सम्बन्ध में कहते हैं—

न देहारम्भकस्य प्राणत्वमिन्द्रियशक्तितस्तत्सिद्धेः॥ ११३॥

(देहारम्भकस्य प्राणत्वं न) देहारम्भक=देह के उत्पादक कारण उपादानरूप पृथिवी भूत का, या निमित्तरूप से भूतपञ्चक 'पञ्चभूतों'

का, या उन में वायु का प्राणत्व नहीं=प्राणरूप में परिणाम हो जाना नहीं है। कदाचित् प्राण का कारण वायु हो, ऐसा यह वायु के साथ प्राण का सन्देह प्रसङ्ग है। इसी कारण अन्यदर्शन में प्राण का वायु, विकार होना निषिद्ध किया है—"**श्रेष्ठः [प्राणः] न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्**" (वेदान्त० २।४।८,९) किन्तु (इन्द्रियशक्तितः—तत्सिद्धेः) इन्द्रियों की शक्ति होने से प्राण की सिद्धि है=प्राण वस्तुतः इन्द्रियों की शक्ति शक्तिरूप—शक्तिप्रद है। जैसे कहा है—"**प्राण.....या ते.....तनुर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या चक्षुषि या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः**" (प्रश्नो० २।१२)=हे प्राण! जो तेरी तनु=फैलनेवाली शक्तिरूपदेह वाग्-इन्द्रिय में प्रतिष्ठित है, जो कान में आंख में और जो मन में फैली हुई है, उसे शान्त=कल्याणमयी कर शरीर से उत्क्रमण न कर। इसी कारण इन्द्रियाँ भी प्राण नाम से कही गई हैं—"**अथ ह प्राणा अहंश्रेयसि व्यूदिरे.....सा ह वागुच्चक्राम.....चक्षुर्होच्चक्राम.....श्रोत्रं होच्चक्राम**" (छान्दो० ५।१।६—७)=प्राणों ने 'मैं बड़ा हूँ' इस विषय में विवाद किया, तब वाग् इन्द्रिय शरीर से निकल गई, आंख निकल गई, कान निकल गया। यहां इन्द्रियों को प्राण कहा। इन्द्रियां भौतिक नहीं हैं किन्तु आहङ्कारिक हैं=अहङ्कार से उत्पन्न हुई हैं। अतः प्राण भौतिक नहीं किन्तु अभौतिक हैं। उसकी उत्पत्ति भूतों से पूर्व कही गई है—"**एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायु ज्योतिरापः पृथिवी**" (मुण्ड० २।१।३)=वह यह इन्द्रियशक्तिप्रद प्राण अभौतिक जीवात्मा का जीवनधर्म है। कहा है ही—"**आत्मन एष प्राणो जायते**" (प्रश्नो० ३।३)=आत्मा से यह प्राण उत्पन्न होता है। जब जीवात्मा शरीर में प्रवेश करता है तभी प्राण प्रकट होता है, जीवात्मा के निकलने पर प्राण भी निकल जाता है—"**तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमुत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा [इन्द्रियाणि] अनूत्क्रामति**" (बृह० ४।४।२)

अनिरुद्धवृत्ति और विज्ञानभिक्षुभाष्य में सूत्र के विरुद्ध व्याख्यान किया है। सूत्र में तो 'देहारम्भकस्य प्राणत्वनिषेधः' देह के उत्पादक का प्राणत्व प्राणपना निषिद्ध है किन्तु वहां 'प्राणस्य देहारम्भकत्वानिषेधः' प्राण का देहारम्भकत्व=देहोत्पादकपन का निषेध कल्पित किया है। "देहे प्राणदर्शनात् तस्य देहारम्भकत्वशङ्कामपनयति" (अनिरुद्धः) "प्राणस्य देहारम्भकत्वनिरसनम्" (विज्ञानभिक्षुः) ॥ ११३ ॥

प्राण के अभौतिक होने तथा जीवात्मा का जीवनधर्म होने से

जीवात्मा के साथ ही उसका भी शरीर में प्रवेश होता है। प्राण ही भोक्ता जीवात्मा का अधिष्ठान या आश्रय है। जैसे वेदान्त दर्शन में कहा है— "**प्राणवता शब्दात्**" (वेदान्त २।४।१५)=भोग प्राणवाले जीवात्मा का है। तब उस प्राण का शरीर में विशिष्ट कार्य प्रदर्शित करते हैं—

भोक्तुरधिष्ठानाद् भोगायतननिर्माणमन्यथा पूति-भावप्रसक्तिः (प्रसक्तेः ?)॥ ११४॥

(भोक्तुः—अधिष्ठानात्) भोक्ता जीवात्मा के अधिष्ठान आश्रयरूप प्राण से=प्राणसञ्चार से=जीवनसञ्चार से (भोगायतन निर्माणम्) भोगायतन शरीर का निर्माण होता है, शरीर भोगायतन है (अन्यथा पूतिभावप्रसक्तिः) अन्यथा शुक्र—शोणित के उनसे तैयार शरीरपिण्ड के गल जाने, सड़ जाने का प्रसङ्ग हो जावे, शव-मुर्दे की भांति दूषित हो जावे, उसका निर्माण न होसके॥ ११४॥

क्योंकि प्राण तो शरीर में जीवात्मा के साथ ही प्रवेश करता है, पुनः प्राण उसका कैसे अधिष्ठान कल्पित किया जा सकता है, वह ही जीवात्मा स्वचैतन्यरूप से शरीर में जीवनसञ्चार करे। इस पर कहते हैं—

भृत्यद्वारा स्वाम्यधिष्ठितिर्नैकान्तात्॥ ११५॥

(स्वाम्यधिष्ठितिः—भृत्यद्वारा) जीवात्मा स्वामी है और प्राण उसके अधीन भृत्य है, जैसे इन्द्रियां जीवात्मा के भृत्यरूप हैं वे अपने-अपने एक-एक विषय-प्रदर्शन कार्य का परिपालन=कार्य का सम्पादन करता है, क्योंकि स्वामी का अधिष्ठातापन भृत्य द्वारा होता है (एकान्तात्—न) साक्षात् नहीं, अतः जीवनसञ्चार प्राण का ही कार्य है, जीवात्मा का नहीं। इसलिये दोष नहीं॥ ११५॥

परन्तु जब जीवात्मा भोक्तृत्व को त्याग देता है तब वह किस अवस्था में होता है, किस रूप में अवस्थित होता है? इस आकांक्षा पर कहते हैं—

समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता॥ ११६॥

(समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु) जीवात्मा भोक्तृभाव से वियुक्त हुआ समाधि में, या सुषुप्ति में, या मोक्ष में अवस्थित होता है। तब वह समाहित=समाधि को प्राप्त या सुषुप्त या मुक्त होता है। तब उसकी (ब्रह्मरूपता) ब्रह्मगुणसम्पन्न स्थिति हो जाती है, सांसारिक सुख-दुःख उस समय नहीं होते।

यहां विज्ञानभिक्षुभाष्य में ब्रह्मरूपता के विषय में लिखा है कि

''अस्माच्छास्त्रे ब्रह्मशब्द औपाधिकपरिच्छेदमालिन्यादिरहितपरिपूर्ण-चेतनासामान्यवाचीति विवेक्तव्यम्'' (विज्ञानभिक्षुः)=हमारे शास्त्र में ब्रह्मशब्द उपाधि से प्राप्त मलिनता आदि रहित परिपूर्ण चेतन सामान्य वाची है, यह विवेक है। हां, यह विज्ञानभिक्षु का मत है, न कि सांख्यसूत्रकार का मत। ऐसा सांख्यसूत्र नहीं है जिसमें ब्रह्म का लक्षण सूचित किया है। यदि यहां इस सूत्र से यह लक्ष्य हो तो ''समाधि-सुषुप्तिमोक्षेषु स्वरूपता'' ऐसा सूत्र होना चाहिए 'ब्रह्मरूपता' इसके स्थान में 'स्वरूपता' ऐसा सूत्र होना चाहिए परन्तु देखता है आचार्य उस समय ब्रह्मता स्वरूपता नहीं होती। अतः 'ब्रह्मरूपता' इस पद से वर्णन करता है।

अनिरुद्धवृत्ति से भी विज्ञानभिक्षुमत पुष्ट नहीं होता किन्तु खण्डित होता है ''ब्रह्मणा सह तुल्यरूपता'' (अनिरुद्धः) ब्रह्म के साथ समानरूपता हो जाती है। लोक में भी प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है कि सुषुप्ति में पुरुष का चैतन्य प्रतिभासित नहीं होता है। उस समय तो वह अपने चैतन्य का अनभिज्ञ होता हुआ ब्रह्म में निमग्न ब्रह्म के तुल्य निष्प्रपञ्च होता है। और अपने शास्त्र में जिस विषय में परिभाषा या लक्षण नहीं किया जाता है। उसे दूसरे शास्त्र में की हुई परिभाषा या लक्षण अभीष्ट है, अतः विज्ञानभिक्षुमत अयुक्त है॥ ११६॥

ब्रह्मरूपता का तीनों अवस्थाओं में भेद प्रदर्शित करते हैं—

द्वयोः सबीजत्वमन्यस्य तद्धतिः॥ ११७॥

(द्वयोः सबीजत्वम्) पहिली दो अवस्थाओं—समाधि और सुषुप्ति में भोक्तृभाव की सबीजता है, उन दोनों के शरीरसहित होने से। फिर व्युत्थान और जागरण में भोग करता है ही जीवात्मा, उस समय उसके शरीरसहित होने से। परन्तु (अन्यस्य तद्धतिः) समाधि, सुषुप्ति से भिन्न मोक्ष में भोक्तृत्व बीजभाव नष्ट हो जाता है। वहां जीवात्मा के अशरीर= शरीररहित होने से, यह उसमें भेद है॥ ११७॥

समाधि-सुषुप्ति तो प्रत्यक्ष दीखती हैं उनके शरीर में वर्तमान होने से परन्तु मोक्ष तो नहीं दीखता है, उन दोनों समाधि-सुषुप्ति में ही कृतकृत्यता हो। इस पर कहते हैं—

द्वयोरिव त्रयस्यापि दृष्टत्वान्न तु द्वौ॥ ११८॥

(द्वयोः—इव त्रयस्य—अपि दृष्टत्वात्) दोनों—समाधि, सुषुप्ति की भांति तृतीय—'मोक्ष' की भी कृतकृत्यता है, उसके शास्त्रदृष्ट होने से। परन्तु (न तु द्वौ) मोक्ष जैसे वे दोनों नहीं हैं, उनमें मोक्ष जैसी

दुःखात्यन्तनिवृत्ति एवं कृतकृत्यता नहीं है, शास्त्र कहता भी है—"**तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय**" (यजु० ३१।१८)= उसी को जानकर मृत्यु को अतिक्रमण करता है=अमृतत्व को प्राप्त करता है और कोई मार्ग अत्यन्त दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष का नहीं है—"**यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥**" (मुण्ड० ३।३।३)=जब यहां भी परमात्मदर्शी निर्मल होकर ब्रह्म की परमसमता को प्राप्त होता है, कहा है।"**भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति**" (केनो० २।१३)=वस्तु-वस्तु में ब्रह्म का चिन्तन करके मरकर अमृत हो जाते हैं, यह कहा है।"**तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये**" (छान्दो० ६।१४।२)=उसको तक तब ही देर है जब तक शरीर से विमोक्ष न हो॥ ११८॥

सुषुप्ति-समाधि-मोक्षों में मोक्ष की उत्कृष्टता कह दी, उसका उनसे भेद भी दिखला दिया। अब सुषुप्ति-समाधि में समाधि का उत्कृष्टता होना बतलाते हैं, सुषुप्ति से समाधि की विशिष्टता दिखलाते हैं कि अभ्यास और वैराग्य द्वारा समाधि प्राप्त करने वाला जीवन्मुक्त जीता हुआ मुक्त होता है, केवल मुक्त नहीं। शरीरसहित होने से और वह चरमदेह जब तक देह है तब तक दोष से युक्त-क्लेश-कर्मभोगवाला भोगारूढ़ घूमते हुए चक्र की भांति शरीरधारण किए हुए अनर्थभागी नहीं होता—"**तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये**" (छान्दोः० ६।१४।२)=बस उतना ही काल है जब तक शरीर से छूट न जावे। यही कहते हैं—

वासनयाऽनर्थख्यापनं * दोषयोगेऽपि न निमित्तस्य प्रधानबाधकत्वम्॥ ११९॥

(वासनया—अनर्थख्यापनम्) वासना से अनर्थदर्शन होता है अभ्यास वैराग्य द्वारा समाधि को प्राप्त हुए चरमदेह=अन्तिम देहवाले जीवन्मुक्त की वासना नहीं रहती है। उस चरमदेह वासनारहित के (दोषयोगे—अपि न) क्लेश-कर्म योग होते हुए भोगारूढ़ का भी अनर्थदर्शन नहीं होता। उस ऐसे चरमदेह योगी के पुण्यपाप कर्म जाति नहीं है। कहा भी है—"**अशुक्लकृष्ण संन्यासिनां क्षीणक्लेशानां चरमदेहानामिति**" (योग० ४।७। व्यासः) पुण्य-पाप-कर्म-रहित

* 'वासनयाऽनर्थख्यानं' (अनिरुद्धः) 'वासनया न स्वार्थख्यापनं' (विज्ञानभिक्षुः)

स्थिति क्षीणक्लेश चरमदेह संन्यासियों की होती है (निमित्तस्य प्रधानबाधकत्वम्) क्लेश—कर्म आदि दोषों का निमित्त वासना है। वासना से ही वे बढ़ते हैं। वासना रूप निमित्त की प्रधान बाधकता मोक्ष में हो जाती है, वासनारूप निमित्त के अभाव से समाधि को प्राप्त जीवन्मुक्त का अनर्थ दर्शन नहीं होता। सुषुप्ति को प्राप्त का तो सुषुप्ति के अनन्तर अनर्थ दर्शन होता ही है, वासना के विद्यमान होने से। अतः सुषुप्ति से समाधि उत्कृष्टतर है और ब्रह्मसम्पत्ति भी अपने बोधसहित उत्कृष्टतर है॥ ११९॥

वासना से अनर्थ दर्शन कहते हो, और वह वासना जीवन्मुक्त की नहीं, ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वासना संस्कार है, संस्कार से ही जीवन्मुक्त के चरमदेह की भोगक्रिया अन्तिम कहते हो, परन्तु क्रियासन्तान से संस्कारसन्तान प्रवृत्त होता है। इस प्रकार एक-एक क्रिया के प्रति नवीन एक-एक संस्कार प्रवृत्त हो, उससे समाधि को प्राप्त जीवन्मुक्त को भी संस्कारापत्ति=वासनाप्रसङ्ग हो जावेगा। इस विषय में कहते हैं—

एकः संस्कारः क्रियानिर्वर्तको न तु प्रतिक्रियं संस्कारभेदा बहुकल्पनाप्रसक्तेः॥ १२०॥

(एकः संस्कारः क्रियानिर्वर्तकः) एक ही संस्कार क्रिया को निर्वृत्त करता=सिद्ध करता है, जब तक क्रियासमाप्ति हो या क्रिया के क्रम की समाप्ति हो, वह ही एक संस्कार प्रवृत्त होता है (न तु प्रतिक्रियं संस्कारभेदाः) प्रति क्रियासन्तान—क्रिया के प्रत्येक प्रवाह के साथ भिन्न-भिन्न संस्कार नया-नया संस्कार उद्भव नहीं होता (बहुकल्पनाप्रसक्तेः) क्रिया और संस्कार में बारंबार बहुत कल्पना प्रसङ्ग हो जावे, उस समय उस कल्पना की समाप्ति न होगी। अतः वह समाधि को प्राप्त हुए जीवन्मुक्त घूमते हुए चक्र की भांति शरीर धारण किया हुआ, पूर्व संस्कार के लेश से भोगक्रिया का अनुष्ठान करता हुआ, पुनः संस्कार के वश में नहीं आता। उसकी अन्तिम भोग क्रिया संस्कार के लेश से प्रवृत्त हुई है, अतः संस्कार लेश से भोग समाप्त हो जाता है। जैसे, कुम्हार का चाक वेग रूप संस्कार से घूमता है, संस्कारलेश से आगे फिर संस्कार नहीं उत्पन्न होता। जैसे कहा है—"**नापनीतक्लेशः 'कर्माशयः' कर्मसंस्कारः प्ररोहसमर्थः**" (योग २। १३ व्यासः)=क्लेशविहीन कर्मसंस्कार प्ररोह समर्थ नहीं होता है। अतः सुषुप्तिवाले से समाधिवाला उत्कृष्टतर है॥ १२०॥

अच्छा, मोक्ष में तो हो जीवात्मा का भोक्तृत्व का अभाव, उसके स्वरूपनिष्ठ हो जाने से। समाधि में भोक्तृत्व का अभाव हो, भोक्तृबुद्धि के

निरुद्ध हो जाने से। सुषुप्ति में भोक्तृत्व का अभाव गाढ निद्रा से अभिभूत होने से, इससे बाह्यबुद्धि भोक्तृत्व साधिका है यह निष्कर्ष आया, तो फिर जो उद्भिज्ज शरीर, वृक्ष आदि निर्दिष्ट किया है उसमें बाह्य बुद्धि का अभाव है, इससे वहां भोक्तृत्व सिद्ध नहीं होता है, भोक्तृत्व के अभाव से शरीर होना भी सिद्ध नहीं होगा। इस आशङ्का पर कहते हैं—

न बाह्यबुन्द्धिनियमः ॥ १२१ ॥

वृक्षगुल्मलतौषधिवनस्पतितृणवीरुधादीनामपि भोक्तृभोगायतनत्वं पूर्ववत् ॥ १२२ ॥

इन दोनों सूत्रों की एकवाक्यता है—

(बाह्यबुद्धिनियमः—न) भोक्तृत्व में बाह्यबुद्धि का नियम नहीं है, हो बाह्यबुद्धि से भी भोक्तृत्व परन्तु उसमें नियम नहीं, क्योंकि बाह्यबुद्धि के बिना भी भोक्तृत्व अन्तःबुद्धि से होता है (वृक्षगुल्म-लतौषधिवनस्पति-वीरुधादीनाम्) वृक्ष, गुल्म, लता, औषधि, वनस्पति, वीरुध आदि अन्तर्बुद्धिवाले उद्भिज्ज जीवों का (भोक्तृभोगायतनत्वं पूर्ववत्) भोक्ता के भोग का आयतन होना पूर्व कहे ऊष्मज आदि जङ्गम शरीर के समान समझना॥ १२१-१२२॥

वह वृक्ष आदि का भोक्तृभोगायतन होना और अन्तःसंज्ञ होना कैसे सिद्ध होता है—

स्मृतेश्च ॥ १२३ ॥

(स्मृतेः—च) स्मृति से और श्रुति से सिद्ध होता है। श्रुति—"**सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा। अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रतितिष्ठ शरीरैः**" (ऋ० १०। १६। ३)=सूर्य को नेत्र जावे, वात को आत्मा, द्युलोक को पृथिवी को जा स्वकर्म से या जलों को जा यदि वहां तेरा हित स्थित हो, ओषधियों में प्रतिष्ठित हो शरीरों द्वारा। "**योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः। स्थाणुमन्येऽनु-संयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥**" (कठो० २। ५। ७)=अन्य जीव मनुष्य आदि योनि को प्राप्त होते हैं शरीर धारण के लिये, कुछ स्थावर वृक्ष आदि को प्राप्त होते हैं, जैसे जिसका कर्म और ज्ञान है। "**अस्य महतो वृक्षस्य यो मूले.....यदेकां शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति.....सर्वं जहाति सर्वः शुष्यति.....जीवापेतं किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते**" (छान्दो० ६। ११। १। ३)=यहां कहा गया है कि वृक्ष की एक शाखा को जीव

छोड़ देता है तो वह सूख जाती है, सबको छोड़ देता है तो सब सूख जाता है, जीव से हीन मरता है जीव नहीं मरता है। स्मृति भी—"**शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः।**" (मनु० १२।९)=शरीर से हुए कर्मदोषों से मनुष्य स्थावर हो जाता है॥ सूत्र में स्मृतिनिर्देश की प्रधानता है—"**श्रुतेश्च**" ऐसा सूत्र होना चाहिए था, परन्तु "न बाह्यबुद्धिनियमः" इस कथन की प्रधानता से यहां स्मृतिकथन की प्रधानता है, क्योंकि वृक्ष आदि की अन्तर्बुद्धिवाले होते हैं, सुखदुःख से युक्त हुए होते हैं॥ १२३॥

वृक्ष आदि जीवों के देह हैं और वे अन्तःसंज्ञ हैं, पुनः कैसे उनके द्वारा कर्मानुष्ठान किया जा सकेगा, कर्म तो बहिःसंज्ञा से सम्पन्न होते हैं। इस आकांक्षा पर कहते हैं—

न देहमात्रतः कर्माधिकारित्वं वैशिष्ट्यश्रुतेः॥ १२४॥

(देहमात्रतः कर्माधिकारित्वं न) देहमात्र से ही कर्माधिकारीपन=कर्मानुष्ठानाधिकारीपन=कर्मविधान नहीं है, क्योंकि (वैशिष्ट्यश्रुतेः) विशिष्टता के श्रवण से, सभी प्राणियों के लिये कर्मविधान करने वाली श्रुति नहीं है किन्तु—"**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे**" (यजु० ४०।२) यहां श्रुति में मनुष्य के लिये कर्म का विधान है, अतः दोष नहीं। वृक्ष आदि का अन्तःसंज्ञ होने से कर्म का अभाव है, वृक्ष आदि में कर्म की अपेक्षा नहीं है, वे तो भोगदेह हैं॥ १२४॥ क्योंकि—

त्रिधा त्रयाणां व्यवस्था कर्मदेहोपभोगदेहोभयदेहाः॥ १२५॥

(त्रिधा व्यवस्था) देह के सम्बन्ध में तीन प्रकार की व्यवस्था है और वह ऐसी कि (त्रयाणां कर्मदेहभोगदेहोभयदेहाः) साङ्कल्पिक शरीरवाले वेदप्रकाशक अग्नि आदि परम ऋषियों का कर्मदेह, वे भोग के लिये प्रादुर्भूत नहीं हुए किन्तु वेद का प्रकाश करना कर्म ही उनका रहा है, अतः वे कर्मदेह हैं। मनुष्य से भिन्न पशु-पक्षी आदि प्राणी, और उद्भिज वृक्ष, वनस्पति, लताओं का भोगदेह उनके कर्त्तव्य कर्माचरण के असम्भव से, विधि-निषेधदृष्टि से पुण्यपाप कर्म के अनुष्ठान की असम्भवता से वे तो उपभोग देह ही हैं। मनुष्य उभयदेह हैं, वे भोग और कर्म करने योग्य देहवाले हैं, विधि-निषेध कर्म भी करते हैं, भोग भी सेवन करते हैं, अतः वे उभयदेह हैं॥ १२५॥

किन्तु—

न किञ्चिदप्यनुशयिनः ॥ १२६ ॥

(अनुशयिनः—किञ्चित्—अपि न) अनुशय=पुनर्जन्मार्थ पुण्य-पाप संस्कार तथा पर—शरीर में आवेश करने के लिये योगज पराक्रम, यह ऐसा दोनों प्रकार में से अनुशय जिसका है, वह अनुशयी होता है। उसका कुछ भी उस देह में कर्म या भोक्तव्य नहीं है, इसलिये कि वह उस देह का अभिमानी नहीं है, वह वहां अनुशयी है। अनुशयी दो प्रकार का होता है—एक तो वृक्ष आदि स्थावर योनि में, दूसरा मनुष्य आदि जङ्गम योनि में। जो तो वृक्ष आदि में अनुशयी होता है, वह तो परतन्त्र स्वकर्मानुसार अनुशयवाला होता हुआ चन्द्रलोक से आकर वृक्ष आदि में अनुशयन करता है, जैसे कहा है—"**कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च**" (वेदान्त० ३।१।१८)=कर्मगति समाप्ति पर अनुशयवाला दृष्ट और स्मृति द्वारा जैसे जाता है वैसे प्रतिलोम रीति से आता है। "**अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात्**" (वेदान्त० ३।१।२४)=दूसरे जीवों के अधिष्ठित होते हुए भी वह अनुशयवान् वहां रहता है—"**अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते.....ते पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति। अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्रूप एव भवति। तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्.....**" (छान्दो० ५।१०।२-७), यहां कहा है कि जो नगर में इष्टापूर्त दानकर्म का सेवन करते हैं वे पुनः निवृत्त होते हैं, लौटते हैं। जैसे गए थे आकाश से वायु को वायु होकर धूम, धूम होकर अभ्र, अभ्र होकर मेघ, मेघ होकर बरसता है। वे यहां चावल, जौ, ओषधि, वनस्पति, तिल, माष हो जाते हैं। अतः अतिशीघ्र=तुरन्त जो=जो भिन्न रमणीय चरणवाले होते हैं, वे तुरन्त रमणीय योनि को प्राप्त करते हैं। ये ऐसे अनुशयी उन अन्तर्बुद्धि से भोग करते हुए वृक्ष आदि के भोग से सम्पर्करहित हुए वहां अनुशयन करते हैं। वहां उनका नहीं होता, वहां तो उनकी यात्रामात्र ही है। दूसरा अनुशयी होता है। योगी जो परदेह में आवेश का पराक्रम रखनेवाला होता है वह परदेह में अनुशयन करता है, प्रवेश करता है। जैसे कहा है योगदर्शन में—"**बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः**" (योग० ३।३८)=शरीर में बन्धन के कारण की शिथिलता करने से चित्त उसमें प्राप्ति विधि के सेवन

से परशरीरावेश होता है। उस ऐसे परशरीर में आविष्ट अनुशयी योगी का उस शरीर में होनेवाला कर्म और भोग वहां नहीं होता, उस शरीर के कर्म और भोग से वह सम्पृक्त नहीं होता। वहां तो उसका योग कौतूहल प्रदर्शन ही है॥ १२६॥

उस अनुशयी का वहां भोग क्यों नहीं है, यह कहते हैं—

न बुद्ध्यादिनित्यत्वमाश्रयविशेषेऽपि वह्निवत्॥ १२७॥

(आश्रयविशेषे—अपि) पुनर्जन्मप्राप्ति के लिये वृक्ष आदि में अभिनिविष्ट अनुशयी जीव का तथा योगसिद्धि से परशरीर में प्रविष्ट योगी अनुशयी का भोगमय और भोगकर्ममय आश्रय विशेष में भोग आदि सम्भव नहीं। क्योंकि (बुद्ध्यादिनित्यत्वं न) भोगादि तो बुद्धि आदि—बुद्धि, अहङ्कार, मन, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रियों का नित्यत्व नहीं। ये नित्य नहीं हैं, सर्वदा आत्मा के साथ वैसे ही प्रकटरूप से सम्बन्धित नहीं। व्यक्तरूप में=प्रकट रूप में होने पर ही उपकरणता को प्राप्त होती हैं। किन्तु अनभिव्यक्त रूप=अप्रकटरूप में तो वे (वह्निवत्) आश्रय विशेष होने पर भी=इन्धन होने पर भी, अप्रकट अग्निदहन आदि कार्य करने में जैसे समर्थ नहीं, जब तक जैसे अग्नि दाहक धर्मवान् रूप में प्रकट न हो, वैसे ही अनुशयी के बुद्धि आदि भी भोग कर्म में समर्थ नहीं होते, आश्रय विशेष होने पर भी॥ १२७॥

इसी विषय में दूसरा हेतु—

आश्रयासिद्धेश्च॥ १२८॥

(आश्रयासिद्धेः—च) 'च' हेतु अर्थ में है। अनुशयी का जो आश्रय वृक्ष आदि या परदेह हैं उसके असिद्ध होने से, सदा का आश्रय न होने से। वह तो आश्रय पुनर्जन्म प्रयोजनार्थ यात्रामात्र है और योगी का परशरीरावेश योगलीलामात्र=योगक्रीडाप्रदर्शनार्थ=योगकौतुहल प्रदर्शनार्थ है। तथा पुनर्जन्मार्थ वृक्षादि आश्रय असिद्ध स्वतः ही उपकरणरहित है, और योगसिद्धि के लिये परदेह भी असिद्ध=अशक्त=शक्तिहीन उसे ऐसे देह में योगी के प्रवेश का योग कौतुहल होता है॥ १२८॥

अनुशयी योगी का परशरीर में आवेश आशङ्कनीय नहीं, असम्भव नहीं, यह कहते हैं—

योगसिद्धयोऽप्यौषधादिसिद्धिवन्नापलपनीयाः॥ १२९॥

(योगपसिद्धयः—अपि न अपलपनीयाः) योगसिद्धियां भी "**बन्ध-**

कारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः'' (योगः ३। ३८) परशरीरावेश आदि सिद्धियां भी तिरस्कार करने योग नहीं, किन्तु स्वीकार करने योग्य हैं, मानने योग्य हैं (औषधादिसिद्धवत्) जैसे ही ''**जन्मौषधि-मन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः**'' (योग० ४। १) इस सूत्र में ओषधि, मन्त्र, तप से होनेवाली सिद्धियां जैसे स्वीकार की गई हैं, मानी गई हैं, उसी प्रकार समाधिसिद्धि के भी सूत्र में प्रतिपादन से योगी की परशरीर आवेश आदि सिद्धियां भी स्वीकार्थ मन्तव्य हैं, निषेध करने योग्य नहीं।

यहां विज्ञानभिक्षुभाष्य में ''ईश्वराभावेऽपि योगशक्त्या सृष्टिकर्तृत्व-सम्भवोऽस्ति'' ईश्वर के अभाव में भी योगशक्ति से सृष्टि करना सम्भव है। यह कथन अनर्गल ही है, क्योंकि सृष्टि में ही योगी का होना सम्भव है। पुनः उसके द्वारा सृष्टि रचना प्रलापमात्र है, और योगसूत्र में कहीं यह उपलब्ध नहीं होता है॥ १२९॥

उन इन प्रस्तुत देहों में—

न भूतचैतन्यं प्रत्येकानुपलब्धेः सांहत्ये च सांहत्ये च*॥ १३०॥

(सांहत्ये च भूतचैतन्यं न) भूतों के मेल हो जाने पर जो देह बने उन में भूतों का चैतन्य नहीं है। क्योंकि (प्रत्येकानुपलब्धेः) प्रत्येक में पृथक्-पृथक् भूत में चैतन्य उपलब्ध नहीं होने से। जो धर्म अवयव में न हो वह समुपाय में भी प्रकट नहीं होता। अतः देह में चैतन्य चेतनस्वरूप आत्मा का मानना चाहिए। ''**न सांसिद्धिकं चैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः**'' (सांख्य० ३। २०) इस सूत्र में कह देने पर भी यहां फिर कहना प्रसङ्गपूर्ति के अर्थ तथा आगे ''**अस्त्यात्मा.....**'' (सांख्य० ६। १) आत्मप्रसङ्ग के उठाने के लिये है कि जिसका देह में चैतन्य है वह देह आदि से अतिरिक्त भूतों से न प्रकट होनेवाला चेतन आत्मा है, इस हेतु यह पुनरुक्ति दोषयुक्त नहीं है। 'सांहत्ये च सांहत्ये च' दो बार कथन अध्याय की समाप्ति के लिये है॥ १३०॥

सांख्यदर्शन में स्वामिब्रह्ममुनिकृत भाषाभाष्यसहित पञ्चम अध्याय समाप्त हुआ।

❑❑

* 'सांहित्ये च' अनिरुद्धपाठः। 'सांहित्यऽपि च' विज्ञानभिक्षुपाठः।